"हाँ, यहाँ पर एक बात और भी जान लेने की है और वह यह कि प्रो० साहब ने अपने '**विलुप्त अध्याय**' में यह लिखा था कि "दिगम्बरजैन साहित्य में जो आचार्य स्वामी की उपाधि से विशेषत: विभूषित किये गये हैं, वे आप्तामीमांसा के कर्ता समन्तभद्र ही हैं।" और आगे श्रवणबेल्गोल के एक शिलालेख में भद्रबाहु द्वितीय के साथ 'स्वामी' पद जुड़ा हुआ देखकर यह बतलाते हुए कि "भद्रबाहु की उपाधि 'स्वामी' थी, जो कि साहित्य में प्राय: एकान्तत: समन्तभद्र के लिये ही प्रयुक्त हुई है" समन्तभद्र और भद्रबाहु द्वितीय को 'एक ही व्यक्ति' प्रतिपादित किया था। इस पर से कोई भी यह फलित कर सकता है कि जिन समन्तभद्र के साथ **स्वामी** पद लगा हुआ हो उन्हें प्रो० साहब के मतानुसार आप्तमीमांसा का कर्ता समझना चाहिए। तदनुसार ही प्रो० साहब के सामने रत्नकरण्ड की टीका का उक्त प्रमाण यह प्रदर्शित करने के लिये रक्खा गया कि जब प्रभाचन्द्रचार्य भी रत्नकरण्ड को स्वामी समन्तभद्रकृत लिख रहे हैं और प्रो० साहब 'स्वामी' पद का असाधारण सम्बन्ध आप्तमीमांसाकार के साथ जोड़ रहे हैं, तब वह उसे आप्तमीमांसाकार से भिन्न किसी दूसरे समन्तभद्र की कृति कैसे बतलाते हैं? इसके उत्तर में प्रो० साहब ने लिखा है कि "प्रभाचन्द्र का उल्लेख केवल इतना ही तो है कि रत्नकरण्ड के कर्ता स्वामी समन्तभद्र हैं, उन्होंने यह तो प्रकट किया ही नहीं कि ये ही रत्नकरण्ड के कर्ता आप्तमीमांसा के भी रचयिता हैं।"[१३२] परन्तु साथ में लगा हुआ **स्वामी** पद तो उन्हीं के मन्तव्यानुसार उसे प्रकट कर रहा है, यह देखकर उन्होंने यह भी कह दिया है कि "रत्नकरण्ड के कर्ता समन्तभद्र के साथ 'स्वामी' पद बाद को जुड़ गया है, चाहे उसका कारण भ्रान्ति हो या जान बूझकर ऐसा किया गया हो।" परन्तु अपने प्रयोजन के लिये यह कह देने मात्र से कोई काम नहीं चल सकता, जब तक कि उसका कोई प्राचीन आधार व्यक्त न किया जाय, कम से कम प्रभाचन्द्राचार्य से पहले की लिखी हुई रत्नकरण्ड की कोई ऐसी प्राचीन मूल प्रति पेश होनी चाहिये थी, जिसमें समन्तभद्र के साथ 'स्वामी' पद लगा हुआ न हो। लेकिन प्रो० साहब ने पहले की, ऐसी कोई भी प्रति पेश नहीं की, तब वे बाद को भ्रान्ति आदि के वश 'स्वामी' पद के जुड़ने की बात कैसे कह सकते हैं? नहीं कह सकते, उसी तरह, जिस तरह कि मेरे द्वारा सन्दिग्ध करार दिये हुए रत्नकरण्ड के सात पद्यों को प्रभाचन्द्रीय टीका से पहले की ऐसी प्राचीन प्रतियों के न मिलने के कारण प्रक्षिप्त नहीं कह सकते,[१३३] जिनमें वे पद्य सम्मिलित न हों।" (जै.सा.इ.वि.प्र./खं.१/४७०-४७३)।

---

१३२. अनेकान्त / वर्ष ८/ किरण ३/ पृ. १२९।

१३३. अनेकान्त / वर्ष ९ / किरण १/ पृ. १२ पर प्रकाशित प्रोफेसर साहब का उत्तर पत्र।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

"इस तरह प्रो० साहब की तीसरी आपत्ति में कुछ भी सार मालूम नहीं होता। युक्ति के पूर्णतः सिद्ध न होने के कारण वह रत्नकरण्ड और आप्तमीमांसा के एककर्तृत्व में बाधक नहीं हो सकती, और इसलिये उसे भी समुचित नहीं कहा जा सकता।

"IV. अब रही चौथी आपत्ति की बात, जिसे प्रो० साहब ने रत्नकरण्ड के निम्न उपान्त्य पद्य पर से कल्पित करके रक्खा है—

येन स्वयं वीतकलङ्कविद्यादृष्टिक्रियारत्नकरण्डभावम्।
नीतस्तमायाति पतीच्छयेव सर्वार्थसिद्धिस्त्रिषु विष्टपेषु॥

"इस पद्य (१४९) में ग्रन्थ का उपसंहार करते हुए यह बतलाया गया है कि "जिस (भव्य जीव) ने आत्मा को निर्दोषविद्या, निर्दोषदृष्टि और निर्दोषक्रियारूप रत्नों के पिटारे के भाव में परिणत किया है, अपने आत्मा में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यकचारित्ररूप रत्नत्रयधर्म का आविर्भाव किया है, उसे तीनों लोकों में सर्वार्थसिद्धि, धर्म-अर्थ-काम मोक्षरूप सभी प्रयोजनों की सिद्धि स्वयंवरा कन्या की तरह स्वयं प्राप्त हो जाती है, अर्थात् उक्त सर्वार्थसिद्धि उसे स्वेच्छा से अपना पति बनाती है, जिससे वह चारों पुरुषार्थों का स्वामी होता है और उसका कोई भी प्रयोजन सिद्ध हुए बिना नहीं रहता।"

"इस अर्थ को स्वीकार करते हुए प्रो० साहब का जो कुछ विशेष कहना है, वह यह है—"यहाँ टीकाकार प्रभाचन्द्र के द्वारा बतलाये गये वाच्यार्थ के अतिरिक्त श्लेषरूप से यह अर्थ भी मुझे स्पष्ट दिखाई देता है कि "जिसने अपने को अकलङ्क और विद्यानन्द के द्वारा प्रतिपादित निर्मल ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूपी रत्नों की पिटारी बना लिया है, उसे तीनों स्थलों पर सर्व अर्थों की सिद्धिरूप सर्वार्थसिद्धि स्वयं प्राप्त हो जाती है, जैसे इच्छामात्र से पति को अपनी पत्नी।" यहाँ निःसन्देहतः रत्नकरण्डकार ने तत्त्वार्थसूत्र पर लिखी गई तीनों टीकाओं का उल्लेख किया है। सर्वार्थसिद्धि कहीं शब्दशः और कहीं अर्थतः, अकलङ्ककृत राजवार्तिक एवं विद्यानन्दकृत श्लोकवार्तिक में प्रायः पूरी ही ग्रथित है। अतः जिसने अकलङ्ककृत और विद्यानन्द की रचनाओं को हृदयङ्गम कर लिया, उसे सर्वार्थसिद्धि स्वयं आ जाती है। रत्नकरण्ड के इस उल्लेख पर से निर्विवादतः सिद्ध हो जाता है कि यह रचना न केवल पूज्यपाद से पश्चात्कालीन है, किन्तु अकलङ्क और विद्यानन्द से भी पीछे की है।"[१३४] ऐसी हालत में रत्नकरण्डकार का आप्तमीमांसा के कर्ता से एकत्व सिद्ध नहीं होता।[१३५]

---

१३४. अनेकान्त / वर्ष ७ / किरण ५-६ / पृ. ५३।
१३५. अनेकान्त / वर्ष ८ / किरण ३ / पृ. १३२।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

"यहाँ प्रो० साहब द्वारा कल्पित इस श्लोषार्थ के सुघटित होने में दो प्रबल बाधाएँ हैं। एक तो यह कि जब **वीतकलंक** से **अकलंक** का और **विद्या** से **विद्यानन्द** का अर्थ ले लिया गया तब **दृष्टि** और **क्रिया** दो ही रत्न शेष रह जाते हैं और वे भी अपने निर्मल-निर्दोष अथवा सम्यक् जैसे मौलिक विशेषण से शून्य। ऐसी हालत में श्लेषार्थ के साथ जो **निर्मल ज्ञान** अर्थ भी जोड़ा गया है, वह नहीं बन सकेगा और उसके न जोड़ने पर वह श्लेषार्थ ग्रन्थसन्दर्भ के साथ असङ्गत हो जायगा, क्योंकि ग्रन्थभर में तृतीय पद्य से प्रारम्भ करके इस पद्य के पूर्व तक सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप तीन रत्नों का ही धर्मरूप से वर्णन है, जिसका उपसंहार करते हुए ही इस उपान्त्य पद्य में उनको अपनानेवाले के लिये सर्व अर्थ की सिद्धिरूप फल की व्यवस्था की गई है, इसकी तरफ किसी का भी ध्यान नहीं गया। दूसरी बाधा यह है कि **त्रिषु विष्टपेषु** पदों का अर्थ जो 'तीनों स्थलों पर' किया गया है, वह सङ्गत नहीं बैठता, क्योंकि अकलंकदेव का राजवार्तिक और विद्यानन्द का श्लोकवार्तिक ग्रन्थ ये दो ही स्थल ऐसे हैं, जहाँ पर पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि (तत्त्वार्थवृत्ति) शब्दशः तथा अर्थतः पाई जाती है। तीसरे स्थल की बात मूल के किसी भी शब्द पर से उसका आशय व्यक्त न करने के कारण नहीं बनती। यह बाधा जब प्रो० साहब के सामने उपस्थित की गई और पूछा गया कि 'त्रिषु विष्टपेषु' का श्लेषार्थ जो 'तीनों स्थलों पर' किया गया है, वे तीन स्थल कौन से हैं, जहाँ पर सर्व अर्थ की सिद्धिरूप 'सर्वार्थसिद्धि' स्वयं प्राप्त हो जाती है? तब प्रोफेसर साहब उत्तर देते हुए लिखते हैं—

"मेरा ख्याल था कि वहाँ तो किसी नई कल्पना की आवश्यकता ही नहीं, क्योंकि वहाँ उन्हीं तीन स्थलों की सङ्गति सुस्पष्ट है, जो टीकाकार ने बतला दिये हैं अर्थात् दर्शन, ज्ञान और चरित्र, क्योंकि वे तत्त्वार्थसूत्र के विषय होने से सर्वार्थसिद्धि में तथा अकलङ्कदेव और विद्यानन्द की टीकाओं में विवेचित हैं और उनका ही प्ररूपण रत्नकरण्डकार ने किया है।"[१३६] (जै.सा.इ.वि.प्र./खं.१/पृ.४७३-४७५)।

"यह उत्तर कुछ भी संगत मालूम नहीं होता, क्योंकि टीकाकार प्रभाचन्द्र ने 'त्रिषु विष्टपेषु' का स्पष्ट अर्थ 'त्रिभुवनेषु' पद के द्वारा 'तीनों लोक में' दिया है। उसके स्वीकार की घोषणा करते हुए और यह आश्वासन देते हुए भी कि उस विषय में टीकाकार से भिन्न "किसी नई कल्पना की आवश्यकता नहीं" टीकाकार का अर्थ न देकर 'अर्थात्' शब्द के साथ उसके अर्थ की निजी नई कल्पना को लिये हुए अभिव्यक्ति करना और इस तरह 'त्रिभुवनेषु' पद का अर्थ **दर्शन, ज्ञान और चारित्र** बतलाना अर्थ का अनर्थ करना अथवा खींचतान की पराकाष्ठा है। इससे उत्तर की

---

१३६. अनेकान्त/वर्ष ८/किरण ३/पृ. १३०।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

संगति और भी बिगड़ जाती है, क्योंकि तब यह कहना नहीं बनता कि सर्वार्थसिद्धि आदि टीकाओं में दर्शन, ज्ञान और चारित्र विवेचित हैं, प्रतिपादित हैं, **बल्कि यह कहना होगा कि दर्शन, ज्ञान और चारित्र में सर्वार्थसिद्धि आदि टीकाएँ विवेचित हैं, प्रतिपादित हैं, जो कि एक बिल्कुल ही उल्टी बात होगी।** और इस तरह आधार-आधेय-सम्बन्धादि की सारी स्थिति बिगड़ जायगी, और तब श्लेषरूप में यह भी फलित नहीं किया जा सकेगा कि अकलङ्क और विद्यानन्द की टीकाएँ ऐसे कोई स्थल या स्थानविशेष हैं, जहाँ पर पूज्यपाद की टीका सर्वार्थसिद्धि स्वयं प्राप्त हो जाती है।

"इन दोनों बाधाओं के सिवाय श्लेष की यह कल्पना अप्रासंगिक भी जान पड़ती है, क्योंकि रत्नकरण्ड के साथ उसका कोई मेल नहीं मिलता, रत्नकरण्ड तत्त्वार्थसूत्र की कोई टीका भी नहीं, जिससे किसी तरह खींचतान कर उसके साथ कुछ मेल बिठलाया जाता, वह तो आगम की ख्याति को प्राप्त एक स्वतन्त्र मौलिक ग्रन्थ है, जिसे पूज्यपादादि की उक्त टीकाओं का कोई आधार प्राप्त नहीं है और न हो सकता है। और इसलिये उसके साथ उक्त श्लेष का आयोजन एक प्रकार का असम्बद्ध प्रलाप ठहरता है अथवा यों कहिये कि '**विवाह तो किसी का और गीत किसी के**' इस उक्ति को चरितार्थ करता है। यदि विना सम्बन्धविशेष के केवल शब्दछल को लेकर ही श्लेष की कल्पना अपने किसी प्रयोजन के वश की जाय और उसे उचित समझा जाय, तब बहुत कुछ अनर्थों के सङ्घटित होने की सम्भावना है। उदाहरण के लिये स्वामिसमन्तभद्र-प्रणीत **जिनशतक** के उपान्त्य पद्य (नं० ११५) में भी '**प्रतिकृतिः सर्वार्थसिद्धिः परा**' इस वाक्य के अन्तर्गत 'सर्वार्थसिद्धि' पद का प्रयोग पाया जाता है और ६१वें पद्य में तो '**प्राप्य सर्वार्थसिद्धिं गां**' इस वाक्य के साथ उसका रूप और स्पष्ट हो जाता है, उसके साथवाले '**गां**' पद का अर्थ वाणी लगा लेने से वह वचनात्मिका 'सर्वार्थसिद्धि' हो जाती है। इस 'सर्वार्थसिद्धि' का वाच्यार्थ यदि उक्त श्लेषार्थ की तरह पूज्यपाद की 'सर्वार्थसिद्धि' लगाया जायगा, तो स्वामी समन्तभद्र को भी पूज्यपाद के बाद का विद्वान् कहना होगा और तब पूज्यपाद के '**चतुष्टयं समन्तभद्रस्य**' इस व्याकरणसूत्र में उल्लिखित समन्तभद्र चिन्ता के विषय बन जायेंगे तथा और भी शिलालेखों, प्रशस्तियों तथा पट्टावलियों आदि की कितनी ही गड़बड़ उपस्थित हो जायगी। अतः सम्बन्धविषय को निर्धारित किये बिना केवल शब्दों के समानार्थ को लेकर ही श्लेषार्थ की कल्पना व्यर्थ है।

"इस तरह जब श्लेषार्थ ही सुघटित न होकर बाधित ठहरता है, तब उसके आधार पर यह कहना कि "रत्नकरण्ड के इस उल्लेख पर से निर्विवादतः सिद्ध हो जाता है कि वह रचना न केवल पूज्यपाद के पश्चात्कालीन है, किन्तु अकलंक और विद्यानन्द से भी पीछे की है" कोरी कल्पना के सिवाय और कुछ भी नहीं

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

है। उसे किसी तरह भी युक्तिसंगत नहीं कहा जा सकता, रत्नकरण्ड के '**आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्य**' पद्य का **न्यायावतार** में पाया जाना भी इसमें बाधक है। वह केवल उत्तर के लिये किया गया प्रयास मात्र है और इसी से उस को प्रस्तुत करते हुए प्रो० साहब को अपने पूर्वकथन के विरोध का भी कुछ ख्याल नहीं रहा, जैसा कि मैं इससे पहले द्वितीयादि आपत्तियों के विचार की भूमिका में प्रकट कर चुका हूँ।

"यहाँ पर एक बात और भी प्रकट कर देने की है और वह यह कि प्रो० साहब श्लेष की कल्पना के बिना उक्त पद्य की रचना को अटपटी और अस्वाभविक समझते हैं, परन्तु पद्य का जो अर्थ ऊपर दिया गया है और जो आचार्य प्रभाचन्द्र-सम्मत है, उससे पद्य की रचना में कहीं भी कुछ अपटपटापन या अस्वाभाविकता का दर्शन नहीं होता है। वह बिना किसी श्लेषकल्पना के ग्रन्थ के पूर्व कथन के साथ भले प्रकार सम्बद्ध होता हुआ ठीक उसके उपसंहाररूप में स्थित है। उसमें प्रयुक्त हुए 'विद्या', 'दृष्टि' जैसे शब्द पहले भी ग्रन्थ में ज्ञान-दर्शन जैसे अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं, उनके अर्थ में प्रो० साहब को कोई विवाद भी नहीं है। हाँ, 'विद्या' से श्लेषरूप में 'विद्यानन्द' अर्थ लेना यह उनकी निजी कल्पना है, जिसके समर्थन में कोई प्रमाण उपस्थित नहीं किया गया, केवल नाम का एकदेश कहकर उसे मान्य कर लिया है।[१३७] तब प्रो० साहब की दृष्टि में पद्य की रचना का अटपटापन या अस्वाभाविकपन एकमात्र **वीतकलंक** शब्द के साथ केन्द्रित जान पड़ता है, उसे ही सीधे वाच्य-वाचक-सम्बन्ध का बोधक न समझकर आपने उदाहरण में प्रस्तुत किया है। परन्तु 'सम्यक्' शब्द के लिये अथवा उसके स्थान पर 'वीतकलंक' शब्द का प्रयोग छन्द तथा स्पष्टार्थ की दृष्टि से कुछ भी अटपटा, असंगत या अस्वाभाविक नहीं है, क्योंकि 'कलंक' का सुप्रसिद्ध अर्थ 'दोष' है।[१३८] और उसके साथ में 'वीत'

---

१३७. जहाँ तक मुझे मालूम है संस्कृतसाहित्य में श्लेषरूप से नाम का एकदेश ग्रहण करते हुए पुरुष के लिये उसका पुंल्लिंग अंश और स्त्री के लिये स्त्रीलिंग अंश ग्रहण किया जाता है, जैसे 'सत्यभामा' नाम की स्त्री के लिये 'भामा' अंश का प्रयोग होता है न कि सत्य अंश का। इसी तरह 'विद्यानन्द' नाम का 'विद्या' अंश, जो कि स्त्रीलिंग है, पुरुष के लिये व्यवहृत नहीं होता। चुनाँचे प्रो० साहब ने श्लेष के उदाहरणरूप में जो '**देवं स्वामिनममलं विद्यानन्दं प्रणम्य निजभक्त्या**' नामका पद्य उद्धृत किया है, उसमें विद्यानन्द का 'विद्या' नाम से उल्लेख न करके पूरा ही नाम दिया है। विद्यानन्द का 'विद्या' नाम से उल्लेख का दूसरा कोई भी उदाहरण देखने में नहीं आता।

१३८. 'कलङ्कोऽङ्के कालायसमले दोषापवादयोः।' विश्वलोचन कोश। दोष के अर्थ में कलंक शब्द के प्रयोग का एक सुस्पष्ट उदाहरण इस प्रकार है—

अपाकुर्वन्ति यद्वाचः कायवाक्चित्तसम्भवम्।
कलङ्कमङ्गिनां सोऽयं देवनन्दी नमस्यते॥ १५॥ ज्ञानार्णव।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

विशेषण विगत, मुक्त, त्यक्त, विनष्ट अथवा रहित जैसे अर्थ का वाचक है, जिसका प्रयोग समन्तभद्र के दूसरे ग्रन्थों में भी ऐसे स्थलों पर पाया जाता है, जहाँ श्लेषार्थ का कोई काम नहीं, जैसे आप्तमीमांसा के 'वीतरागः' तथा 'वीतमोहः' पदों में, स्वयम्भूस्तोत्र के 'वीतघनः' तथा 'वीतरागे' पदों में, युक्त्यनुशासन के 'वीतविकल्पधीः' और जिनशतक के 'वीतचेतो-विकाराभिः' पद में। जिसमें से दोष या कलंक निकल गया अथवा जो उससे मुक्त है, उसे वीतदोष, निर्दोष, निष्कलंक, अकलंक तथा वीतकलंक जैसे नामों से अभिहित किया जाता है, जो सब एक ही अर्थ के वाचक पर्यायनाम हैं। वास्तव में जो निर्दोष है, वही सम्यक् (यथार्थ) कहे जाने के योग्य है, दोषों से युक्त अथवा पूर्ण को सम्यक् नहीं कह सकते। रत्नकरण्ड में सत्, सम्यक्, समीचीन, शुद्ध और वीतकलंक इन पाँचों शब्दों को एक ही अर्थ में प्रयुक्त किया है और वह है यथार्थता—निर्दोषता, जिसके लिये स्वयंम्भूस्तोत्र में **समञ्जस** शब्द का भी प्रयोग किया गया है। इनमें 'वीतकलंक' शब्द सबसे अधिक, 'शुद्ध' से भी अधिक स्पष्टार्थ को लिये हुए है और वह अन्त में स्थित हुआ अन्तदीपक की तरह पूर्व में प्रयुक्त हुए 'सत्' आदि सभी शब्दों की अर्थदृष्टि पर प्रकाश डालता है, जिसकी जरूरत थी, क्योंकि 'सत्', 'सम्यक्' जैसे शब्द प्रशंसादि के भी वाचक हैं। प्रशंसादि किस चीज में है? दोषों के दूर होने में है। उसे भी 'वीतकलंक' शब्द व्यक्त कर रहा है। दर्शन में दोष शंकामूढतादिक, ज्ञान में संशय-विपर्ययादिक और चारित्र में रागद्वेषादि होते हैं। इन दोषों से रहित जो दर्शन, ज्ञान और चारित्र हैं, वे ही वीतकलंक अथवा निर्दोष दर्शन-ज्ञान-चारित्र हैं, उन्हीं रूप जो अपने आत्मा को परिणत करता है, उसे ही लोक-परलोक के सर्व अर्थों की सिद्धि प्राप्त होती है। यही उक्त उपान्त्य पद्य का फलितार्थ है और इससे यह स्पष्ट जाना जाता है कि पद्य में 'सम्यक्' के स्थान पर 'वीतकलंक' शब्द का प्रयोग बहुत सोच-समझकर गहरी दूरदृष्टि के साथ किया गया है। छन्द की दृष्टि से भी वहाँ सत्, सम्यक्, समीचीन, शुद्ध या समञ्जस जैसे शब्दों में से किसी का प्रयोग नहीं बनता और इसलिये 'वीतकलंक' शब्द का प्रयोग श्लेषार्थ के लिये अथवा द्राविडी प्राणयाम के रूप में नहीं है, जैसा कि प्रोफेसर साहब समझते हैं। यह बिना किसी श्लेषार्थ की कल्पना के ग्रन्थसन्दर्भ के साथ सुसम्बद्ध और अपने स्थान पर सुप्रयुक्त है।" (जै.सा.इ.वि.प्र./खं.१/पृ. ४७५-४७९)।

"अब मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि ग्रन्थ का अन्तःपरीक्षण करने पर उसमें कितनी ही बातें ऐसी पाई जाती हैं, जो उसकी अति प्राचीनता की द्योतक हैं, उसके कितने ही उपदेशों, आचारों, विधि-विधानों अथवा क्रियाकाण्डों की तो परम्परा भी टीकाकार प्रभाचन्द्र के समय में लुप्त हुई-सी जान पड़ती है, इसी से वे उन पर यथेष्ट प्रकाश नहीं डाल सके और न बाद को ही किसी के द्वारा वह डाला

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

जा सकता है, जैसे '**मूर्धरुह-मुष्टि-वासो-बन्धं**' और '**चतुरावर्तत्रितय**' नामक पद्यों में वर्णित आचार की बात। **अष्ट-मूलगुणों में पञ्च अणुव्रतों का समावेश भी प्राचीन परम्परा का द्योतक है, जिसमें समन्तभद्र से शताब्दियों बाद भारी परिवर्तन हुआ और उसके अणुव्रतों का स्थान पञ्च उदम्बरफलों ने ले लिया।**[१३९] **एक चाण्डालपुत्र को 'देव' अर्थात् आराध्य बतलाने और एक गृहस्थ को मुनि से भी श्रेष्ठ बतलाने जैसे उदार उपदेश भी बहुत प्राचीनकाल के संसूचक हैं, जब कि देश और समाज का वातावरण काफी उदार और सत्य को ग्रहण करने में सक्षम था।** परन्तु यहाँ उन सब बातों के विचार एवं विवेचन का अवसर नहीं है, वे तो स्वतन्त्र लेख के विषय हैं, अथवा अवसर मिलने पर **समीचीन-धर्मशास्त्र** की प्रस्तावना में उनपर यथेष्ट प्रकाश डाला जायगा। यहाँ मैं उदाहरण के तौरपर सिर्फ दो बातें ही निवेदन कर देना चाहता हूँ और वे इस प्रकार हैं—

''क—रत्नकरण्ड में सम्यग्दर्शन को तीन मूढताओं रहित बतलाया है और उन मूढताओं में पाखण्डिमूढता का भी समावेश करते हुए उसका जो स्वरूप दिया है, वह इस प्रकार है—

सग्रन्थारम्भहिंसानां संसारावर्तवर्तिनाम्।
पाखण्डिनां पुरस्कारो ज्ञेयं पाखण्डिमोहनम्॥ २४॥

''जो सग्रन्थ हैं (धनधान्यादि परिग्रह से युक्त हैं), आरम्भसहित हैं (कृषि-वाणिज्यादि सावद्यकर्म करते हैं), हिंसा में रत हैं और संसार के आवर्तों में प्रवृत्त हो रहे हैं (भवभ्रमण में कारणीभूत विवाहादि कर्मों द्वारा दुनिया के चक्कर अथवा गोरखधन्धे में फँसे हुए हैं), ऐसे पाखण्डियों का, वस्तुतः पाप के खण्डन में प्रवृत्त न होनेवाले लिंगी साधुओं का जो (पाखण्डी के रूप में अथवा साधु-गुरु बुद्धि से) आदर-सत्कार है, उसे **पाखण्डिमूढ** समझना चाहिए।''

''इस पर से यह स्पष्ट जाना जाता है कि रत्नकरण्ड ग्रन्थ की रचना उस समय हुई है जब कि **पाखण्डी** शब्द अपने मूल अर्थ में '**पापं खण्डयतीति पाखण्डी**' इस निर्युक्ति के अनुसार पाप का खण्डन करने के लिए प्रवृत्त हुए तपस्वी साधुओं के लिये आमतौर पर व्यवहृत होता था, चाहे वे साधु स्वमत के हों या परमत के।

---

१३९. इस विषय को विशेषतः जानने के लिये देखो लेखक का 'जैनाचार्यों का शासन भेद' नामक ग्रन्थ पृष्ठ ७ से १५। उसमें दिये हुए 'रत्नमाला' के प्रमाण पर से यह भी जाना जाता है कि रत्नमाला की रचना उसके बाद हुई है, जब कि मूलगुणों में अणुव्रतों के स्थान पर पञ्चोदम्बर की कल्पना रूढ हो चुकी थी और इसलिए भी वह रत्नकरण्ड से शताब्दियों बाद की रचना है।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

चुनाँचे मूलाचार (अ०५) में '**रत्तवडचरग-तावसपरिहत्तादीय अण्णपासंडा**' वाक्य के द्वारा रक्तपटादिक साधुओं को अन्यमत के पाखण्डी बतलाया है, जिससे साफ ध्वनित है कि तब स्वमत (जैनों) के तपस्वी साधु भी 'पाखण्डी' कहलाते थे। और इसका समर्थन **कुन्दकुन्दाचार्य** के **समयसार** ग्रन्थ की '**पाखंडीलिंगाणि य गिहलिंगाणि व बहुप्पयाराणि**' इत्यादि गाथा नं० ४०८ आदि से भी होता है, जिनमें पाखंडीलिंग को अनगार-साधुओं (निर्ग्रन्थादि मुनियों) का लिंग बतलाया है। परन्तु **पाखण्डी** शब्द के अर्थ की यह स्थिति आज से कोई दशों शताब्दियों पहले से बदल चुकी है। और तब से यह शब्द प्रायः **धूर्त** अथवा **दम्भी-कपटी** जैसे विकृत अर्थ में व्यहृत होता आ रहा है। इस अर्थ का रत्नकरण्ड के उक्त पद्य में प्रयुक्त हुए **पाखण्डिन्** शब्द के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। यहाँ 'पाखण्डी' शब्द के प्रयोग को यदि धूर्त, दम्भी, कपटी अथवा झूठे (मिथ्यादृष्टि) साधु जैसे अर्थ में लिया जाय, जैसा कि कुछ अनुवादकों ने भ्रमवश आधुनिक दृष्टि से ले लिया है, तो अर्थ का अनर्थ हो जाय और **पाखण्डि-मोहनम्** पद में पड़ा हुआ 'पाखण्डिन्' शब्द अनर्थक और असम्बद्ध ठहरे। क्योंकि इस पद का अर्थ है—'**पाखण्डियों के विषय में मूढ होना**' अर्थात् पाखण्डी के वास्तविक[१४०] स्वरूप को न समझकर अपाखण्डियों अथवा पाखण्ड्याभासों को पाखण्डी मान लेना और वैसा मानकर उनके साथ तद्रूप आदर-सत्कार का व्यवहार करना। इस पद का विन्यास ग्रन्थ में पहले से प्रयुक्त **देवतामूढम्** पद के समान ही है, जिसका आशय है कि 'जो देवता नहीं हैं—रागद्वेष से मलीन देवताभास हैं, उन्हें देवता समझना और वैसा समझकर उनकी उपासना करना। ऐसी हालत में 'पाखंडिन्' शब्द का अर्थ 'धूर्त' जैसा करने पर इस पद का ऐसा अर्थ हो जाता है कि 'धूर्तों के विषय में मूढ़ होना अर्थात् जो धूर्त नहीं हैं, उन्हें धूर्त समझना और वैसा समझकर उनके साथ आदर-सत्कार का व्यवहार करना' और यह अर्थ किसी तरह भी संगत नहीं कहा जा सकता। अतः रत्नकरण्ड में 'पाखंडिन्' शब्द अपने मूल पुरातन अर्थ में ही व्यवहृत हुआ है, इसमें जरा भी सन्देह के लिये स्थान नहीं है। इस अर्थ की विकृति विक्रम सं० ७३४ से पहले हो चुकी थी और वह धूर्त जैसे अर्थ में व्यवहृत होने लगा था, इसका पता उक्त संवत् अथवा वीरनिर्वाण सं० १२०४ में बनकर समाप्त हुए श्रीरविषेणाचार्यकृत **पद्मचरित** के निम्न वाक्य से चलता है, जिसमें भरत चक्रवर्ती के

---

१४०. पाखण्डी का वास्तविक स्वरूप वही है, जिसे ग्रन्थकार महोदय ने 'तपस्वी' के निम्न लक्षण में समाविष्ट किया है। ऐसे ही तपस्वी साधु पापों का खण्डन करने में समर्थ होते हैं—

विषयाशा-वशाऽतीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।
ज्ञान-ध्यान-तपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते॥ १०॥

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

प्रति यह कहा गया है कि जिन ब्राह्मणों की सृष्टि आपने की है, वे वर्द्धमान जिनेन्द्र के निर्वाण के बाद कलियुग में महा-उद्धत **पाखंडी** हो जायेंगे। और अगले पद्य में उन्हें **सदा पापक्रियोद्यताः** विशेषण भी दिया गया है—

वर्द्धमानजिनस्याऽन्ते भविष्यन्ति कलौ युगे।
ते ये भवता सृष्टाः पाखण्डिनो महोद्धताः॥ ४/११६॥

"ऐसी हालत में रत्नकरण्ड की रचना उन विद्यानन्द आचार्य के बाद की नहीं हो सकती, जिनका समय प्रो० साहब ने ई० सन् ८१६ (वि. संवत् ८७३) के लगभग बतलाया है।

"ख—रत्नकरण्ड में एक पद्य निम्न प्रकार से पाया जाता है—

गृहतो मुनिवनमित्वा गुरूपकण्ठे व्रतानि परिगृह्य।
भैक्ष्याऽशनस्तपस्यन्नुत्कृष्टश्चेल-खण्ड-धरः॥ १४७॥

"इसमें ११वीं प्रतिमा (कक्षा)-स्थित उत्कृष्ट श्रावक का स्वरूप बतलाते हुए, घर से **मुनिवन** को जाकर गुरु के निकट व्रतों को ग्रहण करने की जो बात कही गई है, उससे यह स्पष्ट जाना जाता है कि यह ग्रन्थ उस समय बना है, **जब कि जैन मुनिजन आमतौर पर वनों में रहा करते थे, वनों में ही यत्याश्रम प्रतिष्ठित थे और वहीं जाकर गुरु (आचार्य) के पास उत्कृष्ट श्रावकपद की दीक्षा ली जाती थी। और यह स्थिति उस समय की है जब कि चैत्यवास (मन्दिर मठों में मुनियों का आमतौर पर निवास) प्रारम्भ नहीं हुआ था। चैत्यवास विक्रम की ४ थी, ५वीं शताब्दी में प्रतिष्ठित हो चुका था, यद्यपि उसका प्रारम्भ उससे भी कुछ पहले हुआ था, ऐसा तद्विषयक इतिहास से जाना जाता है।** पं० नाथूराम जी प्रेमी के 'वनवासी और चैत्यवासी सम्प्रदाय' नामक निबन्ध से भी इस विषय पर कितना ही प्रकाश पड़ता है।[१४१] और इसलिये भी रत्नकरण्ड की रचना विद्यानन्द आचार्य के बाद की नहीं हो सकती और न उस रत्नमालाकार के समसामयिक अथवा उसके गुरु की कृति हो सकती है, जो स्पष्ट शब्दों में जैन मुनियों के लिये वनवास का निषेध कर रहा है, उसे उत्तम मुनियों के द्वारा वर्जित बतला रहा है, और चैत्यवास का खुला पोषण कर रहा है।[१४२] वह तो उन्हीं स्वामी समन्तभद्र की कृति होनी चाहिए जो प्रसिद्ध **वनवासी** थे, जिन्हें प्रोफेसर साहब ने श्वेताम्बर पट्टावलियों के आधार पर 'वनवासी' गच्छ अथवा सङ्घ के प्रस्थापक **सामन्तभद्र** लिखा है, जिनका श्वेताम्बरमान्य

---

१४१. जैन साहित्य और इतिहास/प्रथम संस्करण/पृ. ३४७ से ३६९।

१४२. कलौ काले वने वासो वर्ज्यते मुनिसत्तमैः।
स्थीयते च जिनागारे ग्रामादिषु विशेषतः॥ २२॥ रत्नमाला।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

समय भी दिगम्बरमान्य समय (विक्रम की दूसरी शताब्दी) के अनुकूल है और जिनका आप्तमीमांसाकार के साथ एकत्व मानने में प्रो० सा० को कोई आपत्ति भी नहीं है।" (जै.सा.इ.वि.प्र./खं.१/पृ. ४७९-४८२)।

"रत्नकरण्ड के इन सब उल्लेखों की रोशनी में प्रो० साहब की चौथी आपत्ति और भी निःसार एवं निस्तेज हो जाती है और उनके द्वारा ग्रन्थ के उपान्त्य पद्य में की गई श्लेषार्थ की उक्त कल्पना बिल्कुल ही निर्मूल ठहरती है, उसका कहीं से भी कोई समर्थन नहीं होता। रत्नकरण्ड के समय को जाने-अनजाने रत्नमाला के रचनाकाल (विक्रम की ११वीं शताब्दी के उत्तरार्ध या उसके भी बाद) के समीप लाने का आग्रह करने पर **यशस्तिलक** के अन्तर्गत **सोमदेवसूरि** का ४६ कल्पों में वर्णित **उपासकाध्ययन** (वि.सं.१०१६) और **श्रीचामुण्डराय** का **चारित्रसार** (वि० सं० १०३५ के लगभग) दोनों रत्नकरण्ड के पूर्ववर्ती ठहरेंगे, जिन्हें किसी तरह भी रत्नकरण्ड से पूर्ववर्ती सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि दोनों रत्नकरण्ड के कितने ही शब्दादि के अनुसरण को लिये हुए हैं। चारित्रसार में तो रत्नकरण्ड का '**सम्यग्दर्शनशुद्धाः**' नाम का एक पूरा पद्य भी '**उक्तं च**' रूप से उद्धृत है। और तब प्रो० साहब का यह कथन भी कि 'श्रावकाचार-विषय का सबसे प्रधान और प्राचीन ग्रन्थ स्वामी समन्तभद्रकृत रत्नकरण्ड श्रावकाचार है' उनके विरुद्ध जायगा, जिसे उन्होंने धवला की चतुर्थ पुस्तक (क्षेत्रस्पर्शन अनु०) की प्रस्तावना में व्यक्त किया है[१४२.१] और जिसका

१४२.१. उक्त कथन प्रो० हीरालाल जी जैन ने अपने लेख 'सिद्धान्त और उनके अध्ययन का अधिकार' में किया है। (देखिये, आगे पंचम प्रकरण/पैराग्राफ ५)। यह लेख षट्खण्डागम की चौथी पुस्तक की प्रस्तावना में सम्मिलित किया गया था, जैसा कि प्रो० हीरालाल जी जैन ने इस चौथी पुस्तक के ई० सन् १९४१ में प्रकाशित प्रथम संस्करण के प्राक्कथन (पृष्ठ २) में निम्नलिखित शब्दों में सूचित किया है— "---हमारे इस विवेचन को पाठक प्रस्तुत भाग की प्रस्तावना में '**सिद्धान्त और उनके अध्ययन का अधिकार**' शीर्षक में देखेंगे, जिससे उन्हें पता चल जायेगा कि कुन्दकुन्द, समन्तभद्र आदि जैसे अत्यन्त प्राचीन और प्रामाणिक आचार्यों ने गृहस्थों को सिद्धान्तशास्त्र पढ़ने का प्रतिषेध नहीं किया, किन्तु खूब उपदेश दिया है।" यह प्राक्कथन ई० सन् १९९६ में जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर से प्रकाशित उक्त चौथी पुस्तक के तृतीय संस्करण में मुद्रित है, किन्तु 'सिद्धान्त और उनके अध्ययन का अधिकार' लेख मुद्रित नहीं है। इसके विपरीत षट्खण्डागम-पुस्तक २ (जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर/सन् १९९२ ई०) की विषयसूची (पृ.८) में 'प्रस्तावना' शीर्षक के नीचे 'सिद्धान्त और उनके अध्ययन का अधिकार' (पृष्ठ १-३) नामक लेख का उल्लेख है, किन्तु प्रस्तावना (पृष्ठ १-४) में इस शीर्षक के नीचे वह लेख नहीं है, जो षट्खण्डागम

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

उन्हें उत्तर के चक्कर में पड़कर कुछ ध्यान रहा मालूम नहीं होता और वे यहाँ तक लिख गये हैं कि "रत्नकरण्ड की रचना का समय इस (विद्यानन्दसमय वि० सं० ८७३) के पश्चात् और वादिराज के समय अर्थात् शक सं० ९४७ (वि० सं० १०८२) से पूर्व सिद्ध होता है। इस समयावधि के प्रकाश में रत्नकरण्डश्रावकाचार और रत्नमाला का रचनाकाल समीप आ जाते हैं और उनके बीच शताब्दियों का अन्तराल नहीं रहता।"[१४३]

"इस तरह गम्भीर गवेषण और उदार पर्यालोचन के साथ विचार करने पर प्रो० साहब की चारों दलीलें अथवा आपत्तियों में से एक भी इस योग्य नहीं ठहरती, जो रत्नकारण्डश्रावकचार और आप्तमीमांसा का भिन्नकर्तृत्व सिद्ध करने अथवा दोनों के एककर्तृत्व में कोई बाधा उत्पन्न करने में समर्थ हो सके और इसलिये बाधक प्रमाणों के अभाव एवं साधक प्रमाणों के सद्भाव में यह कहना न्यायप्राप्त है कि रत्नकरण्डश्रावकाचार उन्हीं समन्तभद्र आचार्य की कृति है, जो आप्तमीमांसा (देवागम) के रचयिता हैं। और यही मेरा निर्णय है।" (जै.सा.इ.वि.प्र./खं.१/पृ.४८२-४८३)।

पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार द्वारा प्रस्तुत उपर्युक्त प्रमाणों से यह भलीभाँति सिद्ध हो जाता है कि 'रत्नकरण्डश्रावकाचार' 'आप्तमीमांसा' के रचयिता समन्तभद्र की ही कृति है, विक्रम की ११वीं शती में रचित 'रत्नमाला' के कर्त्ता शिवकोटि के गुरु की नहीं। अतः यदि पं० सुखलाल जी संघवी आदि श्वेताम्बर विद्वान् 'न्यायावतार' (७वीं शती ई०) को सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेन की कृति मानते हैं, तो उसमें 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' (तीसरी शती ई०) की 'आप्तोपज्ञमनुल्लङ्घ्यम्' इत्यादि कारिका के उपलब्ध होने से यह कहना कि सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेन स्वामी समन्तभद्र के बाद हुए हैं, सर्वथा युक्तियुक्त है।

की चौथी पुस्तक के प्रथम संस्करण में प्रो० हीरालाल जी जैन के द्वारा लिखा गया था। उसके बदले प्रो० हीरालाल जी जैन की भूमिका के साथ उनके द्वारा प्रस्तुत सेठ हीरालाल नेमचंद, सोलापुर का ई. सन् १९१६ में लिखा गया 'श्रीधवल, जयधवल, महाधवल सिद्धान्तग्रन्थ श्रावकों ने पढ़ना चाहिए या नहीं, इस विषय की चर्चा' नामक लेख छपा है। षट्खण्डागम की चौथी पुस्तक के तृतीय संस्करण में प्रो० हीरालाल जी का उक्त लेख क्यों नहीं छापा गया, यह विचारणीय है। प्रमाण के लिए उक्त लेख षट्खण्डागम (पुस्तक ४) के प्रथम संस्करण (सन् १९४१) में देखा जा सकता है। संभव है वह द्वितीय संस्करण में भी हो।

१४३. अनेकान्त/वर्ष ७/किरण ५-६/पृ.५४।

✧✧✧

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

पञ्चम प्रकरण

रत्नकरण्ड और रत्नमाला में सैद्धान्तिक एवं कालगत भेद

प्रस्तुत अष्टादश अध्याय के प्रथम प्रकरण में पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार का **'सन्मतिसूत्र और सिद्धसेन'** नामक लेख (पु.जै.वा.सू./प्रस्ता./पृ. ११९-१६८) उद्धृत किया गया है। उसमें उन्होंने लिखा है कि पं० सुखलाल जी संघवी ने सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेन को 'सर्वार्थसिद्धि' के कर्त्ता पूज्यपादस्वामी से पूर्ववर्ती (विक्रम की ५वीं शताब्दी में स्थित) तथा स्वामी समन्तभद्र को पूज्यपाद से उत्तरवर्ती सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। (देखिये, प्रस्तुत अध्याय / प्रकरण १ / शीर्षक ७ एवं ७.२)। किन्तु पं० सुखलाल जी संघवी आदि श्वेताम्बर विद्वान् 'न्यायावतार' को भी सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेन की कृति मानते हैं, जिसमें आचार्य समन्तभद्रकृत रत्नकरण्डश्रावकाचार की **'आप्तोपज्ञमनुल्लङ्घ्यम्'** कारिका उपलब्ध होती है। इससे सिद्ध होता है कि उक्त सिद्धसेन समन्तभद्र से उत्तरवर्ती हैं। और पूज्यपादस्वामी ने 'जैनेन्द्र-व्याकरण' में **चतुष्टयं समन्तभद्रस्य** इन शब्दों में समन्तभद्र का उल्लेख किया है। (देखिये, प्रस्तुत अध्याय / प्रकरण १/शीर्षक ७.२)। इससे पूज्यपाद समन्तभद्र से उत्तरवर्ती ठहरते हैं।

किन्तु प्रो० हीरालाल जी जैन ने **'जैन इतिहास का एक विलुप्त अध्याय'** नामक अपने लेख में यह सिद्ध करने का परिश्रम किया है कि 'रत्नकरण्डश्रावकाचार' के कर्त्ता वे समन्तभद्र नहीं हैं, जिन्होंने आप्तमीमांसा की रचना की है, अपितु उनसे बहुत बाद में उत्पन्न हुए एक अन्य समन्तभद्र जो 'रत्नमाला' के कर्त्ता शिवकोटि के गुरु थे, उसके कर्त्ता हैं। प्रो० हीरालाल जी ने आप्तमीमांसाकार समन्तभद्र का समय वीर-निर्वाण संवत् ६४९ (१२२ ई०) माना है। ('जैन इतिहास का एक विलुप्त अध्याय'/अन्तिम पैरा क्र.७)। प्रोफेसर सा० की इस उद्भावना को प्रमाणरूप में उद्धृत करते हुए पं० दलसुख मालवणिया ने अपना यह मन्तव्य प्रकट किया है कि 'न्यायावतार' (पं० सुखलाल जी संघवी के अनुसार विक्रम की ५वीं शती) में उपलब्ध 'आप्तोपज्ञमनुल्लङ्घ्यम्' कारिका 'रत्नकरण्डश्रावकाचार' (मालवणिया जी के अनुसार विक्रम की ५वीं शती से बहुत बाद में रचित) से गृहीत नहीं है, अपितु 'न्यायावतार' की मौलिक कारिका है। अतः "उसके (रत्नकरण्डश्रावकाचार के) आधार से यह कहना कि सिद्धसेन (सन्मतिसूत्रकार) समन्तभद्र के बाद हुये, युक्तियुक्त नहीं है।" (न्यायावतारवार्तिकवृत्ति/प्रस्ता./पृ.१४१)।

पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने अपने उपर्युक्त **'सन्मतिसूत्र और सिद्धसेन'** नामक लेख में अनेक प्रमाणों से सिद्ध किया है कि पूज्यपादस्वामी सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेन

से पूर्ववर्ती हैं तथा प्रस्तुत अध्याय के चतुर्थ प्रकरण में उद्धृत अपने लेख '**रत्नकरण्ड के कर्तृत्व-विषय में मेरा विचार और निर्णय**' में मुख्तार जी ने यह सिद्ध किया है कि 'आप्तमीमांसा' के कर्त्ता समन्तभद्र ही 'रत्नकरण्डश्रावकाचार' के कर्त्ता हैं। इसकी पुष्टि में मुख्तार जी ने पं० दरबारीलाल जी कोठिया के उस लेख की चर्चा की है, जिसमें उन्होंने अनेक प्रमाणों से यह सिद्ध किया है कि **रत्नकरण्डश्रावकाचार** और **रत्नमाला** में पर्याप्त सैद्धान्तिक भेद है, जिससे वे क्रमशः गुरु (समन्तभद्र) और शिष्य (शिवकोटि) की रचनाएँ सिद्ध नहीं होती। इसके अतिरिक्त रत्नकरण्डश्रावकाचार में वर्णित आचार की अपेक्षा रत्नमाला में वर्णित आचार भी बहुत शिथिल दिखायी देता है, जिससे रत्नकरण्डश्रावकाचार प्राचीन काल की तथा रत्नमाला उसके बहुत बाद की, लगभग ११वीं शती ई० की रचना सिद्ध होती है। इससे साबित होता है कि 'रत्नकरण्ड' उन समन्तभद्र की रचना नहीं है, जो रत्नमालाकार शिवकोटि के गुरु थे, अपितु आप्तमीमांसाकार समन्तभद्र की कृति है। (देखिए, प्रस्तुत अध्याय/प्रकरण ४/शीर्षक ६)।

यतः प्रो० हीरालाल जी के अनुसार आप्तमीमांसाकार समन्तभद्र ईसा की द्वितीय शती (१२२ ई०) में हुए थे और पं० सुखलाल जी संघवी के मतानुसार 'न्यायावतार', 'सन्मतिसूत्र' आदि के कर्त्ता सिद्धसेन विक्रम की पाँचवीं शताब्दी मे स्थित थे, अतः यह स्वतः सिद्ध होता है कि 'आप्तोपज्ञमनुल्लङ्घ्यम्' कारिका 'रत्नकरण्डश्रावकाचार' से ही 'न्यायावतार' में पहुँची है। फलस्वरूप सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेन स्वामी समन्तभद्र से उत्तरवर्त्ती हैं।

पं० दरबारीलाल जी कोठिया के उपर्युक्त लेख का शीर्षक है—'**क्या रत्नकरण्डश्रावकाचार स्वामी समन्तभद्र की कृति नहीं है?**' यह 'अनेकान्त' के वर्ष ६/किरण १२/जुलाई १९४४ के अंक में प्रकाशित हुआ था। प्रत्यक्ष प्रमाण के लिए उसका सम्बन्धित अंश नीचे उद्धृत किया जा रहा।

लेख

क्या रत्नकरण्डश्रावकाचार स्वामी समन्तभद्र की कृति नहीं है?

लेखक : न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल जैन कोठिया

(यहाँ लेख का केवल प्रारंभिक अर्द्धांश उद्धृत है। पृ. ३७९-३८२)

"प्रो० हीरालाल जी जैन एम० ए० ने, '**जैन इतिहास का एक विलुप्त अध्याय**' नाम के निबन्ध में कुछ ऐसी बातों को प्रस्तुत किया है, जो आपत्तिजनक हैं। उनमें से श्वेताम्बर आगमों की दश निर्युक्तियों के कर्ता भद्रबाहु-द्वितीय और आप्तमीमांसा

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

के कर्ता स्वामी समन्तभद्र को एक ही व्यक्ति बतलाने की बात पर तो मैं 'अनेकान्त' की गत संयुक्त किरण नं० १०-११ में सप्रमाण विस्तृत विचार करके यह स्पष्ट कर आया हूँ कि निर्युक्तिकार भद्रबाहु-द्वितीय और आप्तमीमांसाकार स्वामी समन्तभद्र एक व्यक्ति नहीं हैं, भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं और वे जुदी दो भिन्न परम्पराओं (श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदायों) में क्रमशः हुए हैं, स्वामी समन्तभद्र जहाँ दूसरी-तीसरी शताब्दी के विद्वान् हैं, वहाँ निर्युक्तिकार भद्रबाहु छठी शताब्दी के विद्वान् हैं।

"आज मैं प्रो० सा० की एक दूसरी बात को लेता हूँ, जिसमें उन्होंने रत्नकरण्ड-श्रावकाचार को आप्तमीमांसाकार स्वामी समन्तभद्र की कृति स्वीकार न करके दूसरे ही समन्तभद्र की कृति बतलाई है और जिन्हें आपने आचार्य कुन्दकुन्द के उपदेशों का समर्थक तथा रत्नमाला के कर्ता शिवकोटि का गुरु संभावित किया है, जैसा कि आपके (उपर्युक्त) निबन्ध की निम्न पंक्तियों से प्रकट है—

"रत्नकरण्डश्रावकाचार को उक्त समन्तभद्र प्रथम (स्वामी समन्तभद्र) की ही रचना सिद्ध करने के लिये जो कुछ प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं, उन सबके होते हुए भी मेरा अब यह मत दृढ़ हो गया है कि वह उन्हीं ग्रन्थकार की रचना कदापि नहीं हो सकती, जिन्होंने आप्तमीमांसा लिखी थी, क्योंकि उसमें दोष का[१४४] जो स्वरूप समझाया गया है वह आप्तमीमांसाकार के अभिप्रायानुसार हो ही नहीं सकता। मैं समझता हूँ कि रत्नकरण्ड-श्रावकाचार कुन्दकुन्दाचार्य के उपदेशों के पश्चात् उन्हीं के समर्थन में लिखा गया है। इस ग्रन्थ का कर्ता उस रत्नमाला के कर्ता शिवकोटि का गुरु भी हो सकता है, जो **आराधना** के कर्ता **शिवभूति** या **शिवार्य** की रचना कदापि नहीं हो सकती।" (अनेकान्त/वर्ष ६/किरण १२/पृ. ३७९)।

"यहाँ मैं यह भी प्रकट कर देना चाहता हूँ कि प्रो० सा० ने आज से कुछ अर्से पहले **'सिद्धान्त और उनके अध्ययन का अधिकार'** शीर्षक लेख में, जो बाद को धवला की चतुर्थ पुस्तक में भी सम्बद्ध किया गया है, रत्नकरण्डश्रावकाचार को स्वामी समन्तभद्रकृत स्वीकार किया है और उसे गृहस्थों के लिये सिद्धान्तग्रन्थों के अध्ययन-विषयक नियंत्रण न करने में प्रधान और पुष्ट प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया है। यथा—

"श्रावकाचार का सबसे प्रधान, प्राचीन, उत्तम और सुप्रसिद्ध ग्रन्थ स्वामी समन्तभद्रकृत रत्नकरण्डश्रावकाचार है, जिसे वादिराजसूरि ने, 'अक्षयसुखावह' और प्रभाचन्द्र ने 'अखिल सागारधर्म को प्रकाशित करने वाला सूर्य' कहा है । इस ग्रन्थ में

---

१४४. क्षुत्पिपासाजरातङ्कजन्मान्तकभयस्मयाः।
न रागद्वेषमोहाश्च यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते॥ ६॥ रत्नकरण्डश्रावकाचार।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

श्रावकों के अध्ययन पर कोई नियंत्रण नहीं लगाया गया, किन्तु इसके विपरीत--।'' (क्षेत्रस्पर्शन./प्रस्ता./पृ.१२)। (देखिये, इसी अध्याय में पादटिप्पणी क्र. १४२.१)।

''किन्तु अब मालूम होता है कि प्रो० सा० ने अपनी वह पूर्व मान्यता छोड़ दी है और इसीलिये रत्नकरण्ड को स्वामी समन्तभद्र की कृति नहीं मान रहे हैं। अस्तु।

''प्रो० साहब ने अपने निबन्ध की उक्त पंक्तियों में रत्नकरण्डश्रावकाचार को स्वामी समन्तभद्रकृत सिद्ध करनेवाले जिन प्रस्तुत प्रमाणों की ओर संकेत किया है, वे प्रमाण वे हैं, जिन्हें परीक्षा द्वारा अनेक ग्रन्थों को जाली सिद्ध करनेवाले मुख्तार श्री पं० जुगलकिशोर जी ने माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला में प्रकाशित रत्नकरण्डश्रावकाचार की प्रस्तावना में विस्तार के साथ प्रस्तुत किया है।[१४५] मैं चाहता था कि उन प्रमाणों को यहाँ उद्धृत करके अपने पाठकों को यह बतलाऊँ कि वे कितने प्रबल तथा पुष्ट प्रमाण हैं, परन्तु वर्तमान सरकारी आर्डिनेंस के कारण पत्रों का कलेवर इतना कृश हो गया है कि उसमें अधिक लम्बे लेखों के लिये स्थान नहीं रहा और इसलिये मुझे अपने उक्त विचार को छोड़ना पड़ा, फिर भी मैं यहाँ इतना जरूर प्रकट कर देना चाहता हूँ कि प्रो० साहब ने अपने निबन्ध में उक्त प्रमाणों का कोई खण्डन नहीं किया—वे उन्हें मानकर ही आगे चले हैं, जैसा कि ''उन सबके होते हुए भी मेरा अब यह दृढ़ मत हो गया है'' इन शब्दों में प्रकट है। जान पड़ता है मुख्तार साहब ने अपने प्रमाणों को प्रस्तुत कर देने के बाद जो यह लिखा था कि ''ग्रन्थ (रत्नकरण्ड श्रा०) भर में ऐसा कोई कथन भी नहीं है, जो आचार्य महोदय के दूसरे किसी ग्रन्थ के विरुद्ध पड़ता हो'' इसे लेकर ही प्रो० साहब ने **दोष** के स्वरूप में विरोधप्रदर्शन का कुछ यत्न किया है, जो ठीक नहीं हैं और जिसका स्पष्टीकरण आगे चल कर किया जायगा।'' (अनेकान्त / वर्ष ६ / किरण १२ / पृ.३७९-८०)।

''यहाँ सबसे पहले रत्नमाला के सम्बन्ध में विचार कर लेना उचित जान पड़ता है। यह रत्नमाला रत्नकरण्डश्रावकाचार-निर्माता के शिष्य की तो कृति मालूम नहीं होती, क्योंकि दोनों ही कृतियों में शताब्दियों का अन्तराल जान पड़ता है, जिससे दोनों के कर्ताओं में साक्षाद् गुरु-शिष्य-सम्बन्ध अत्यन्त दुर्घट ही नहीं, किन्तु असंभव है। साथ ही इसका साहित्य बहुत ही घटिया तथा अक्रम है। इतना ही नहीं, इसमें रत्नकरण्डश्रावकाचार से कितने ही ऐसे सैद्धान्तिक मतभेद भी पाये जाते हैं, जो प्रायः साक्षात् गुरु और शिष्य के बीच में संभव प्रतीत नहीं होते। नमूने के तौर पर यहाँ दो उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं—

---

१४५. देखिये, प्रस्तावना पृ.५ से १५ तक।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

"१. रत्नकरण्ड में शिक्षा-व्रतों के चार भेद बतलाये हैं १ देशावकाशिक, २ सामयिक, ३ प्रोषधोपवास और ४ वैयावृत्य। लेकिन रत्नमाला में देशावकाशिक को छोड़ दिया गया है, यहाँ तक कि उसको किसी भी व्रत में परिगणित नहीं किया और मारणान्तिक सल्लेखना को शिक्षाव्रतों में गिनाया है। यथा—

देशावकाशिकं वा सामयिकं प्रोषधोपवासो वा।
वैयावृत्त्यं शिक्षा-व्रतानि चत्वारि शिष्टानि॥ ९१। र.क.श्रा.।

---॥
सामायिकं प्रोषधोपवासोऽतिथिसु पूजनम्॥ १७॥ रत्नमाला।

मारणान्तिकसल्लेख इत्येवं तच्चतुष्टयम्।
----॥ १८॥ रत्नमाला।

"२. रत्नकरण्ड में उत्कृष्ट श्रावक के लिये मुनियों के निवासस्थान वन में जाकर व्रतों को ग्रहण करने का विधान किया गया है, जिससे स्पष्ट मालूम होता है कि दिगम्बर मुनि उस समय वन में ही रहा करते थे। जब कि रत्नमाला में मुनियों के लिये वन में रहना मना किया गया है। जिनमंदिर तथा ग्रामादि में ही रहने का स्पष्ट आदेश दिया गया है। यथा—

गृहतो मुनिवनमित्वा गुरूपकण्ठे व्रतानि परिगृह्य।
भैक्ष्याशनस्तपस्यन्नुत्कृष्टश्चेलखण्डधरः॥ १४७॥ र.क.श्रा.।

कलौ काले वने वासो वर्ज्यते मुनिसत्तमैः।
स्थीयते च जिनागारे ग्रामादिषु विशेषतः॥ २२॥ रत्नमाला।

"इन बातों से मालूम होता है कि रत्नमाला रत्नकरण्डश्रावकाचार के कर्ता के शिष्य की कृति कहलाने योग्य नहीं है। साथ ही यह भी मालूम होता है कि रत्नमाला की रचना उस समय हुई है, जब मुनियों में काफी शिथिलाचार आ गया था और इसी से पं० आशाधर जी जैसे विद्वानों को '**पंडितैर्भ्रष्टचारित्रैः वठरैश्च तपोधनैः। शासनं जिनचन्द्रस्य निर्मलं मलिनीकृतम्॥**' कहना पड़ा। पर रत्नकरण्ड पर से रत्नकरण्डकार के समय में ऐसे किसी भी तरह के शिथिलाचार की प्रवृत्ति का संकेत नहीं मिलता और इसलिये वह रत्नमाला से बहुत प्राचीन रचना है। रत्नमाला का सूक्ष्म अध्ययन करने से यह भी ज्ञात होता है कि यह यशस्तिलकचम्पू के कर्ता सोमदेव से, जिन्होंने अपने यशस्तिलक की समाप्ति शक सं० ८८१ (वि० १०१६) में की है और इस तरह जो वि० की ११वीं शताब्दी के विद्वान् हैं, बहुत बाद की रचना है, क्योंकि **रत्नमाला**

में आ० सोमदेव का[१४६] आधार है और जिनमंदिर के लिये गाय, जमीन, स्वर्ण और खेत आदि के देने का उपदेश पाया जाने से[१४७] यह भट्टारकीय युग की रचना जान पड़ती है। अतः रत्नमाला का समय वि० की ११वीं शताब्दी से पूर्व सिद्ध नहीं होता, जब कि रत्नकरण्डश्रावकाचार और उसके कर्ता के अस्तित्व का समय विक्रम की छठी शताब्दी से पूर्व का ही प्रसिद्ध होता है। जैसा कि नीचे के कुछ प्रमाणों से प्रकट है—

"१. वि० की ११ वीं शताब्दी के विद्वान् आ० वादिराज ने अपने पार्श्वनाथचरित में रत्नकरण्डश्रावकाचार का स्पष्ट नामोल्लेख किया है,[१४८] जिससे प्रकट है कि रत्नकरण्ड वि० की ११वीं शताब्दी (१०८२ वि०) से पूर्व की रचना है और वह शताब्दियों पूर्व रची जा चुकी थी, तभी वह वादिराज के सामने इतनी अधिक प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण कृति समझी जाती रही कि आ० वादिराज स्वयं उसे **अक्षयसुखावह** बतलाते हैं और **दिष्टः** कह कर उसके आगम होने का संकेत करते हैं। (अनेकान्त/ वर्ष ६ /किरण १२/ पृ. ३८०-८१)।

"२. ११वीं शताब्दी के ही विद्वान् और वादिराज के कुछ समय पूर्ववर्ती आ० प्रभाचन्द्र ने[१४९] प्रस्तुत ग्रन्थ पर एक ख्यात टीका लिखी है, जो माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला में रत्नकरण्ड के साथ प्रकाशित हो चुकी है और जिससे भी प्रकट है कि यह ग्रन्थ ११वीं सदी से पूर्व का है। श्रीप्रभाचन्द्र ने इस ग्रन्थ को स्वामी समन्तभद्रकृत स्पष्ट लिखा है। यथा—

"**श्रीसमन्तभद्रस्वामी रत्नानां रक्षणोपायभूतरत्नकरण्डकप्रख्यं सम्यग्दर्शनादि-रत्नानां पालनोपायभूतं रत्नकरण्डकाख्यं शास्त्रं कर्तुकामो** ---।"

---

१४६. क— सर्वमेव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः।
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रतदूषणम्॥ ४८०॥ यशस्तिलकचम्पू।
ख— सर्वमेव विधिर्जैनः प्रमाणं लौकिकः सताम्।
यत्र न व्रतहानिः स्यात्सम्यक्त्वस्य च खण्डनम्॥ ६५॥ रत्नमाला।

१४७. गोभूमिस्वर्णकच्छादिदानं वसतयेऽर्हताम्।
----------॥ २८॥ रत्नमाला।

१४८. त्यागी स एव योगीन्द्रः येनाऽक्षय्यसुखावहः।
अर्थिने भव्यसार्थाय दिष्टो रत्नकरण्डकः॥ १९॥

१४९. इनका समय पं० महेन्द्रकुमार जी ने ई० ९८० से १०६५ दिया है। (न्यायकुमुदचन्द्र/ द्वितीयभाग की प्रस्तावना)।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

"अतः इन दो स्पष्ट समकालीन उल्लेखों से यह निश्चित है कि रत्नकरण्ड ११वीं शताब्दी के पहले की रचना है, उत्तरकालीन नहीं।

"३. आ० सोमदेव (वि० सं० १०१६) के **यशस्तिलक** में रत्नकरण्डश्रावकाचार का कितना ही उपयोग हुआ है, जिसके दो नमूने इस प्रकार हैं—

क

र.क.श्रा. — **स्मयेन योऽन्यानत्येति धर्मस्थान् गर्विताशयः।**
सोऽत्येति धर्ममात्मीयं न धर्मो धार्मिकैर्विना॥ २६॥

यशस्तिलक — **यो मदात्समयस्थानामवह्लादेन मोदते।**
स नूनं धर्महा यस्मान्न धर्मो धार्मिकैर्विना॥ पृ.४१४॥

ख

र.क.श्रा. — **नियमो यमश्च विहितौ द्वेधा भोगोपभोगसंहारे।**
नियमः परिमितकालो यावज्जीवं यमो ध्रियते॥ ८७॥

यशस्तिलक — **यमश्च नियमश्चेति द्वे त्याज्ये वस्तुनी स्मृते।**
यावज्जीवं यमो ज्ञेयः सावधिर्नियमः स्मृतः॥ पृ.४०३॥

"इससे साफ है कि रत्नकरण्ड और उसके कर्ता का अस्तित्व सोमदेव (वि० १०१६) से पूर्व का है।" (अनेकान्त/वर्ष ६/किरण १२/पृ.३८१)।

"४. विक्रम की ७वीं शताब्दी के आ० सिद्धसेन दिवाकर के प्रसिद्ध **न्यायावतार** ग्रन्थ में रत्नकरण्डश्रावकाचार का '**आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्य**' श्लो० ९ ज्यों का त्यों पाया जाता है, जो दोनों ही ग्रन्थों के संदर्भों का ध्यान से समीक्षण करने पर निःसंदेह रत्नकरण्ड का ही पद्य स्पष्ट प्रतीत होता है। रत्नकरण्ड में जहाँ वह स्थित है, वहाँ उसका मूलरूप से होना अत्यन्त आवश्यक है। किन्तु यह स्थिति न्यायावतार के लिये नहीं है, वहाँ यह श्लोक मूलरूप में न भी रहे, तो भी ग्रन्थ का कथन भंग नहीं होता। क्योंकि वहाँ परोक्षप्रमाण के 'अनुमान' और 'शाब्द' ऐसे दो भेदों को बतलाकर स्वार्थानुमान के कथन के बाद 'स्वार्थ शाब्द' का कथन करने के लिये श्लोक ८ रचा गया है और इसके बाद उपर्युक्त **आप्तोपज्ञ** श्लोक दिया गया है। परार्थ शाब्द और परार्थ अनुमान को बतलाने के लिये भी आगे स्वतंत्र-स्वतंत्र श्लोक हैं, अतः यह पद्य श्लोक ८ में उक्त विषय के समर्थनार्थ ही रत्नकरण्ड से अपनाया गया है,[१५०] यह

१५०. विशेष के लिये देखिये, 'स्वामी समन्तभद्र'/पृ.१२७ से १३२।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

स्पष्ट है। और उसे अपनाकर ग्रन्थकार ने अपने ग्रन्थ का उसी प्रकार अङ्ग बना लिया है, जिस प्रकार अकलङ्कदेव ने आप्तमीमांसा की '**सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः**' कारिका को अपनाकर अपने **न्यायविनिश्चय** में कारिका ४१५ के रूप में ग्रन्थ का अंग बना लिया है। न्यायावतार के टीकाकार **सिद्धर्षि** ने, जिनका समय ९वीं शताब्दी है, इस पद्य की टीका भी की है, इससे रत्नकरण्ड की सत्ता निश्चय ही ९वीं और ७वीं शताब्दी से पूर्व पहुँच जाती है।

"५. ईसा की पाँचवीं (विक्रम की छठी) शताब्दी के विद्वान् आ० पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि में रत्नकरण्डश्रावकाचार के कितने ही पद, वाक्यों और विचारों का शब्दशः और अर्थशः अनुसरण किया है, जिसका मुख्तार श्री पं० जुगलकिशोर जी ने अपने '**सर्वार्थसिद्धि पर समन्तभद्र का प्रभाव**' नामक लेख में अच्छा प्रदर्शन किया है।[१५१] यहाँ उसके दो नमूने दिये जाते है—

क

र. क. श्रा. — **तिर्यक्क्लेश-वणिज्या-हिंसारम्भ-प्रलम्भनादीनाम्।**
कथाप्रसङ्गः प्रसवः स्मर्तव्यः पाप उपदेशः॥ ७६॥

स. सि. — **तिर्यक्क्लेशवाणिज्यप्राणिवधकारम्भकादिषु पापसंयुक्तं वचनं पापोदेशः।** ७/२१/७०३/पृ. २६४।

ख

र. क. श्रा. — **अभिसन्धिकृता विरतिः---व्रतं भवति॥ ८६॥**

स. सि. — **व्रतमभिसन्धिकृतो नियमः।** ७/१/६६५/पृ. २६४।

"ऐसी हालत में छठी शताब्दी से पूर्व के रचित रत्नकरण्ड के कर्ता (समन्तभद्र) ११वीं शताब्दी के उत्तरवर्ती रत्नमालाकार शिवकोटि के गुरु कदापि नहीं हो सकते।

"अतः उपर्युक्त विवेचन से जहाँ यह स्पष्ट है कि रत्नकरण्ड के कर्ता रत्न-मालाकार शिवकोटि के साक्षात् गुरु नहीं हैं, वहाँ यह भी स्पष्ट हो जाता है कि रत्नकरण्डश्रावकाचार सर्वार्थसिद्धि के कर्ता पूज्यपाद (४५० ई०) से पूर्व की कृति है।" (अनेकान्त/वर्ष ६/किरण १२/पृ.३८१-८२)। **(लेख समाप्त)।**

उपर्युक्त प्रमाण यह भी सिद्ध कर देते हैं कि सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेन स्वामी समन्तभद्र से पूर्ववर्ती नहीं, अपितु, उत्तरवर्ती हैं।

---

१५१. देखिये, अनेकान्त/वर्ष ५/किरण १०-११।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

विद्वद्वर पं० दरबारीलाल जी कोठिया ने **अनेकान्त** (वर्ष ६ / किरण १०-११/ जून १९४४) में **'क्या निर्युक्तिकार भद्रबाहु और समन्तभद्र एक हैं?'** इस शीर्षक से एक लेख लिखकर प्रो० हीरालाल जी जैन की इस मान्यता का भी सप्रमाण खण्डन किया है कि निर्युक्तिकार श्वेताम्बराचार्य भद्रबाहु ही स्वामी समन्तभद्र थे। कोठिया जी का यह लेख दशम अध्याय (प्रकरण ८ / शीर्षक २.१०) में उद्धृत किया जा चुका है।

✧✧✧

षष्ठ प्रकरण

रत्नकरण्ड और आप्तमीमांसादि में शब्दार्थसाम्य

माननीय कोठिया जी ने '**क्या रत्नकरण्डश्रावकाचार स्वामी समन्तभद्र की कृति नहीं है?**' इस लेख के उत्तर भाग (पृ.३८४-३८५) में[१५२] रत्नकरण्ड और आप्त-मीमांसादि ग्रन्थों में उपलब्ध शब्दार्थसाम्य के उदाहरण देकर यह भी सिद्ध किया है कि आप्तमीमांसादि ग्रन्थों के कर्ता समन्तभद्र ही 'रत्नकरण्ड' के कर्त्ता हैं, जो पूर्वोक्त प्रकार से इस बात का प्रमाण है कि सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेन स्वामी समन्तभद्र के पश्चात् हुए हैं। उनके शब्द इस प्रकार हैं—

''आप्तमीमांसाकार ही रत्नकरण्ड के कर्ता हैं, इस बात को मैं अन्तःपरीक्षण द्वारा भी प्रकट कर देना चाहता हूँ, ताकि फिर दोनों के कर्तृत्व के सम्बन्ध में कोई संदेह या भ्रम न रहे—

''१. रत्नकरण्डश्रावकाचार श्लोक ९ में शास्त्र के लक्षण में एक खास पद दिया गया है, जो बड़े महत्त्व का है और जो निम्न प्रकार है—

'**अदृष्टेष्टविरोधकम्।** --- **शास्त्रं** ---' ॥ **९**॥ र.क.श्रा.।

''स्वामी समन्तभद्र शास्त्र के इसी लक्षण को युक्त्यनुशासन, आप्तमीमांसा और स्वयंभूस्तोत्र में देते हैं। यथा—

क—**दृष्टागमाभ्यामविरुद्धमर्थप्ररूपणं युक्त्यनुशासनं ते**॥ ४८॥ युक्त्यनुशासन।

ख—**युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्---अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते**॥ ६॥ आप्तमीमांसा।

ग—**दृष्टेष्टाविरोधतः स्याद्वादः**॥ १३८॥ स्वयम्भूस्तोत्र।

''यहाँ तीनों जगह शास्त्र का वही लक्षण दिया है, जिसे रत्नकरण्डश्रावकाचार में कहा है और जिसे यहाँ तार्किकरूप दिया है। पाठक देखेंगे कि यहाँ शब्द और अर्थ प्रायः दोनों एक हैं। (अनेकान्त/वर्ष६/किरण १२/पृ.३८४)।

''२. रत्नकरण्ड में ब्रह्मचर्यप्रतिमा का लक्षण करते हुए कहा गया है कि '**पूति-गन्धि बीभत्सम्---अङ्गम्**' (र.क.श्रा. १४३) और यही स्वयंभूस्तोत्र में सुपार्श्वजिन

---

१५२. 'अनेकान्त'/वर्ष ६/किरण १२/जुलाई १९४४।

की स्तुति में कहा है '--- **जीवधृतं शरीरम्। बीभत्सु पूति क्षयि**' (श्लोक ३२)। ये दोनों वाक्य स्पष्ट ही एक व्यक्ति की भावना को बंतलाते हैं।

''३. रत्नकरण्डश्रावकाचार में आप्त का लक्षण निम्नलिखित किया गया है, जो खास ध्यान देने योग्य है—

आप्तेनोच्छिन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना।
भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत्॥ ५॥

''इस श्लोक को पाठक, आप्तमीमांसा की निम्न कारिकाओं के साथ पढ़ने का कष्ट करें—

सर्वेषामाप्तता नास्ति कश्चिदेव भवेद्गुरुः॥ ३॥

दोषावरणयोर्हानि-र्निश्शेषाऽस्त्यति-शायनात्।
क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः॥ ४॥

सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः॥ ५॥

स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्।
अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते॥ ६॥

त्वन्मतामृतबाह्यानां सर्वथैकान्तवादिनाम्।
आप्ताभिमानदग्धानां स्वेष्टं दृष्टेन बाध्यते॥ ७॥

''यहाँ देखेंगे कि रत्नकरण्ड में आप्त का आगमिक दृष्टि से जो स्वरूप बताया गया है, उसे ही समन्तभद्र ने आप्तमीमांसा की इन कारिकाओं में विभिन्न दार्शनिकों के सामने दार्शनिक ढंग से अन्ययोगव्यवच्छेदपूर्वक रक्खा है और प्रतिज्ञात आप्तस्वरूप को ही अपूर्व शैली से सिद्ध किया है। 'आप्त' के लिये सबसे पहिले **उच्छिन्नदोष** होना आवश्यक और अनिवार्य है, फिर **सर्वज्ञ** और इसके बाद **शास्ता**। जो इन तीन बातों से विशिष्ट है, वही सच्चा आप्त है। इसके बिना 'आप्तता' संभव नहीं है। समन्तभद्र आप्तमीमांसा में इसी बात को युक्ति से सिद्ध करते हैं। '**दोषावरणयोः**' कारिका के द्वारा **उच्छिन्नदोष**, '**सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः**' के द्वारा **सर्वज्ञ** और '**स त्वमेवासि निर्दोषो**' तथा '**त्वन्मतामृत**' इन दो कारिकाओं के द्वारा **शास्ता—अविरोधिवक्ता** प्रकट किया है। सबसे बड़े महत्त्व की बात तो यह है कि रत्नकरण्ड में **आप्तत्व** के प्रयोजक क्रम-विकसित जिन गुणों का प्रतिपादन-क्रम रक्खा है, उसे ही आप्तमीमांसा में अपनाया और प्रस्फुटित किया है। '**ह्यन्यथा आप्तता न भवेत्**' और '**सर्वेषामाप्तता नास्ति**' ये

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

षष्ठ प्रकरण

रत्नकरण्ड और आप्तमीमांसादि में शब्दार्थसाम्य

माननीय कोठिया जी ने '**क्या रत्नकरण्डश्रावकाचार स्वामी समन्तभद्र की कृति नहीं है?**' इस लेख के उत्तर भाग (पृ.३८४-३८५) में[१५२] रत्नकरण्ड और आप्तमीमांसादि ग्रन्थों में उपलब्ध शब्दार्थसाम्य के उदाहरण देकर यह भी सिद्ध किया है कि आप्तमीमांसादि ग्रन्थों के कर्ता समन्तभद्र ही 'रत्नकरण्ड' के कर्त्ता हैं, जो पूर्वोक्त प्रकार से इस बात का प्रमाण है कि सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेन स्वामी समन्तभद्र के पश्चात् हुए हैं। उनके शब्द इस प्रकार हैं—

''आप्तमीमांसाकार ही रत्नकरण्ड के कर्ता हैं, इस बात को मैं अन्तःपरीक्षण द्वारा भी प्रकट कर देना चाहता हूँ, ताकि फिर दोनों के कर्तृत्व के सम्बन्ध में कोई संदेह या भ्रम न रहे—

''१. रत्नकरण्डश्रावकाचार श्लोक ९ में शास्त्र के लक्षण में एक खास पद दिया गया है, जो बड़े महत्त्व का है और जो निम्न प्रकार है—

'**अदृष्टेष्टविरोधकम्। --- शास्त्रं ---**' ॥ ९॥ र.क.श्रा.।

''स्वामी समन्तभद्र शास्त्र के इसी लक्षण को युक्त्यनुशासन, आप्तमीमांसा और स्वयंभूस्तोत्र में देते हैं। यथा—

क—**दृष्टागमाभ्यामविरुद्धमर्थप्ररूपणं युक्त्यनुशासनं ते॥ ४८॥** युक्त्यनुशासन।

ख—**युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्---अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते॥ ६॥**

आप्तमीमांसा।

ग—**दृष्टेष्टाविरोधतः स्याद्वादः॥ १३८॥** स्वयम्भूस्तोत्र।

''यहाँ तीनों जगह शास्त्र का वही लक्षण दिया है, जिसे रत्नकरण्डश्रावकाचार में कहा है और जिसे यहाँ तार्किकरूप दिया है। पाठक देखेंगे कि यहाँ शब्द और अर्थ प्रायः दोनों एक हैं। (अनेकान्त/वर्ष६/किरण १२/पृ.३८४)।

''२. रत्नकरण्ड में ब्रह्मचर्यप्रतिमा का लक्षण करते हुए कहा गया है कि '**पूति-गन्धि बीभत्सम्---अङ्गम्**' (र.क.श्रा. १४३) और यही स्वयंभूस्तोत्र में सुपार्श्वजिन

---

१५२. 'अनेकान्त'/वर्ष ६/किरण १२/जुलाई १९४४।

दोनों पद तो प्रायः एक हैं और इसलिये जो एक दूसरे का ऐक्य बतलाने के लिये खास महत्त्व के हैं और जो किसी भी प्रकार उपेक्षणीय नहीं हैं। अन्यथा आप्तता क्यों नहीं बन सकती? इसका स्पष्ट खुलासा रत्नकरण्डश्रावकाचार में नहीं मिलता और जिसका न मिलना स्वाभाविक है, क्योंकि रत्नकरण्ड आगमिक और विधिपरक रचना है, साथ में संक्षिप्त और विशद गृहस्थाचार की प्रतिपादक एक कृति है। सुकुमारमति गृहस्थों को वे यहाँ युक्तिजाल में आबद्ध करना (लपेटना) ठीक नहीं समझते, किन्तु वे इसका खुलासा आप्तमीमांसा की **'त्वन्मतामृतबाह्यानां'** आदि कारिकाओं में करते हैं और कहते हैं कि **उच्छिन्नदोषत्वादि** के न होने से सदोषता में आप्तता नहीं बन सकती है। अतः यह स्पष्ट है कि रत्नकरण्डश्रावकाचार और आप्तमीमांसादि के कर्ता एक हैं और वे स्वामी समन्तभद्र हैं। (अनेकान्त/वर्ष ६/किरण १२/पृ. ३८४-८५)।

"यहाँ यह शंका उठ सकती है कि रत्नकरण्डश्रावकाचार के भाषासाहित्य और प्रतिपादनशैली के साथ आप्तमीमांसादि के भाषासाहित्य और प्रतिपादनशैली का मेल नहीं खाता। रत्नकरण्डश्रावकाचार की भाषा अत्यन्त सरल और स्पष्ट है, प्रतिपादनशैली भी प्रसन्न है, पर गहरी नहीं है, जब कि आप्तमीमांसादि कृतियों की भाषा अत्यन्त गूढ और जटिल है, थोड़े में अधिक का बोध कराने वाली है, प्रतिपादनशैली गंभीर और सूत्रात्मक है। अतः इन सब का एक कर्ता नहीं हो सकता? यह शंका एककर्तृकता में कोई बाधक नहीं है। रत्नकरण्डश्रावकाचार आगमिक दृष्टि से लिखा गया है और उसके द्वारा सामान्य लोगों को भी जैनधर्म का प्राथमिक ज्ञान कराना लक्ष्य है। आप्तमीमांसादि दार्शनिक कृतियाँ हैं और इसलिये वे दार्शनिक ढंग से लिखी गई हैं। उनके द्वारा विशिष्ट लोगों को, जगत् के विभिन्न दार्शनिकों को जैनधर्म के सिद्धान्तों का रहस्य समझाना लक्ष्य है।

"दूर नहीं जाइये, अकलंक को ही लीजिये। अकलंकदेव जब तत्त्वार्थसूत्र पर अपना तत्त्वार्थवार्त्तिकभाष्य रचते हैं, तो वहाँ उनका भाषासाहित्य कितना सरल और विशद हो जाता है, प्रतिपादनशैली न गंभीर है और न गूढ़ है। किन्तु वही अकलंक जब लघीयस्त्रय, प्रमाणसंग्रह, न्यायविनिश्चय, सिद्धिविनिश्चय और अष्टशती इन दार्शनिक कृतियों की रचना करते हैं, तो उनकी प्रतिपादनशैली कितनी अधिक सूत्रात्मक, दुरवगाह और गंभीर हो जाती है, वाक्यों का विन्यास कितना गूढ और जटिल हो जाता है कि उनके टीकाकार बरबस कह उठते हैं कि अकलंक के गूढ पदों का अर्थ व्यक्त करने की हममें सामर्थ्य नहीं है।[१५३] अतः जिस प्रकार अकलंकदेव का राजवार्तिकभाष्य

---

१५३. देवस्यानन्तवीर्योऽपि पदं व्यक्तुं तु सर्वतः।
न जानीतेऽकलङ्कस्य चित्रमेतत्परं भुवि॥ अनन्तवीर्य।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

आगमिक दृष्टि से लिखा होने से सरल और विशद है और प्रमाणसंग्रहादि दार्शनिकदृष्टि से लिखे होने से जटिल और दुरवगाह हैं, फिर भी इन सबका कर्ता एक है और वे अकलंकदेव हैं, उसी प्रकार 'रत्नकरण्डश्रावकाचार' आगमिक दृष्टिकोण से लिखा गया है और आप्तमीमांसा, युक्त्यनुशासन और स्वयंभूस्तोत्र दार्शनिक दृष्टिकोण से। अत: इन सबका कर्ता एक ही है और वे हैं स्वामी समन्तभद्र।'' (अनेकान्त/वर्ष ६/किरण १२/पृ.३८५)

✧✧✧

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

सप्तम प्रकरण

यापनीयपक्षधर हेतुओं की असत्यता एवं हेत्वाभासता

माननीय डॉ० ए० एन० उपाध्ये और उनका अनुसरण करनेवाली श्रीमती डॉ० कुसुम पटोरिया ने **सिद्धसेनकृत सन्मतिसूत्र** की यापनीयग्रन्थ के रूप में पहचान की है। किन्तु उनके द्वारा उपस्थापित हेतु भी या तो असत्य हैं या हेतु की परिभाषा में नहीं आते। डॉ० उपाध्ये ने '**सिद्धसेन का न्यायावतार और अन्य कृतियाँ**' नामक ग्रन्थ की प्रस्तावना में [१५४] उन हेतुओं की चर्चा की है। दोनों ग्रन्थकारों के हेतुओं को यहाँ **यापनीय-पक्ष** शीर्षक के नीचे दिखलाया जा रहा है और **दिगम्बरपक्ष** शीर्षक के अन्तर्गत उनकी असत्यता या हेत्वाभासता प्रदर्शित की जा रही है।

१

यापनीयपक्ष

डॉ० उपाध्ये—श्वेताम्बराचार्य हरिभद्रसूरि ने सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेन के लिए **श्रुतकेवली** विशेषण का प्रयोग किया है।[१५५] आचार्यों के लिये इस विशेषण का प्रयोग **यापनीयपरम्परा** में मिलता है, जैसे यापनीय आचार्य पाल्यकीर्ति शाकटायन ने अपने व्याकरणग्रन्थ की समाप्ति पर लिखा है—"**इति श्रीश्रुतकेवलिदेशीयाचार्यस्य शाकटायनस्य कृतौ शब्दानुशासने।**" इससे सिद्ध होता है कि सिद्धसेन यापनीय थे।

दिगम्बरपक्ष

इस उदाहरण से तो यापनीय आचार्यों के साथ **श्रुतकेवलिदेशीय** विशेषण का प्रयोग किया जाना सिद्ध होता है न कि **श्रुतकेवली** का। डॉ० सागरमल जी का कथन है कि श्वेताम्बरपरम्परा में भी प्राचीन आचार्यों के लिए 'श्रुतकेवली' विशेषण का प्रयोग होता था। (जै.ध.या.स./पृ. २३२)। इसलिए इस उभयपक्षी विशेषण के आधार पर न तो वे श्वेताम्बर सिद्ध हो सकते हैं, न यापनीय। उभयपक्षी होने से यह हेतु नहीं, हेत्वाभास है। मेरे विचार से हरिभद्रसूरि ने सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेन को श्रुतकेवली के

---

१५४. Siddhasena's Nyāyāvatār and other works, Introduction, p. Xiii to ZViii. (जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय/पृ. २३२-२३७)।

१५५. भण्णइ एगंतेणं अम्हाणं कम्मवायणो इट्ठो।
ण य णो सहाववाओ सुअकेवलिणा जओ भणियं॥ १०४७॥
आयरियसिद्धसेणेण सम्मईए प इट्ठिअजसेणं।
दूसमणिसादिवागर कप्पत्तणओ तदक्खेणं॥ १०४८॥ पञ्चवस्तु।
(श्रीमती डॉ. कुसुम पटोरिया : यापनीय और उनका साहित्य/पृ. १४१)

अनुरूप आदर प्रदान करने के लिए अपनी परम्परानुसार इस विशेषण से विभूषित किया है।

दिगम्बराचार्यों ने सिद्धसेन और उनके सन्मतिसूत्र का अनेकत्र उल्लेख किया है, किन्तु 'श्रुतकेवली' विशेषण का प्रयोग नहीं किया। यदि वे यापनीय होते, तो समकालीन दिगम्बर आचार्यों से उनका सम्प्रदाय छिपा न रहता। हरिवंशपुराण के कर्त्ता जिनसेन, आदिपुराण के कर्त्ता जिनसेन, पद्मपुराणकार रविषेण तथा धवलाकार वीरसेन स्वामी समकालीन यापनीय आचार्यों से सुपरिचित रहे होंगे। यदि सन्मतिसूत्र यापनीयचार्य की कृति होती, तो वे सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्ति के समर्थक जैनाभासी आचार्य को अपनी परम्परा के आचार्यों एवं गुर्वावलियों में परिगणित कर एवं उनकी सूक्तियों को अपने ग्रन्थों में प्रमाणरूप से उद्धृत कर प्रगाढ़ भक्ति और श्रद्धा प्रकट न करते।

२

यापनीयपक्ष

डॉ० उपाध्ये—सन्मतिसूत्र का श्वेताम्बर-आगमों से कुछ बातों में विरोध है, इसीलिए उसे श्वेताम्बरप्रबन्धों में स्थान नहीं मिला। यह सन्मतिसूत्रकार के यापनीय होने का प्रमाण है।

दिगम्बरपक्ष

सन्मतिसूत्रकार का मुख्यतः उपयोग-अभेदवाद की अपेक्षा श्वेताम्बर-आगमों से विरोध है। यह उनके श्वेताम्बर न होने का प्रमाण तो है, किन्तु यापनीय होने का प्रमाण नहीं है, क्योंकि अभेदवाद यापनीयों का सिद्धान्त था, यह किसी अन्य स्रोत से प्रमाणित नहीं है। इसके विपरीत यापनीय श्वेताम्बर-आगमों को मानते थे, यह सुप्रसिद्ध है, अतः श्वेताम्बर-आगम-मान्य क्रमवाद यापनीयों को भी मान्य था, यह स्वतः फलित होता है। यह केवल दिगम्बरों को अमान्य था, अतः सन्मतिसूत्र में उसका खण्डन एवं अभेदवाद का प्रतिपादन दिगम्बरमान्यताओं के अनुरूप होने से सिद्ध होता है कि सिद्धसेन दिगम्बर ही हैं। यतः उपयोग-अभेदवाद यापनीयों का सिद्धान्त नहीं था, अतः यह हेतु असत्य है।

३

यापनीयपक्ष

डॉ० उपाध्ये—'पंचम द्वात्रिंशिका' में महावीर के विवाहित होने का संकेत है। यह सिद्धसेन के यापनीय होने का सूचक है।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

दिगम्बरपक्ष

इस द्वात्रिंशिका में युगपद्वाद का प्रतिपादन है, जो सन्मतिसूत्र के अभेदवाद के विरुद्ध है। अतः वह किसी अन्य सिद्धसेन की कृति है, सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेन की नहीं। फलस्वरूप उसके वर्ण्यविषय के आधार पर सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेन यापनीय सिद्ध नहीं होते। चूँकि 'पंचम द्वात्रिंशिका' सन्मतिसूत्रकार की कृति नहीं है, अतः यह हेतु भी असत्य है।

४

यापनीयपक्ष

डॉ० उपाध्ये—निश्चयद्वात्रिंशिका में कुछ सैद्धान्तिक मतभेद हैं, जो सिद्धसेन की यापनीय-सम्प्रदायगत मान्यताएँ हो सकती हैं, उन्हीं के कारण उन्हें **द्वेष्यश्वेतपट** कहा गया है।

दिगम्बरपक्ष

निश्चयद्वात्रिंशिका में वर्णित मान्यताएँ सन्मतिसूत्र के सर्वथा विरुद्ध हैं, अतः यह सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेन की कृति नहीं है। **द्वेष्यश्वेतपट** (शत्रु माने जाने योग्य श्वेताम्बर) विशेषण तो इस द्वात्रिंशिकाकार के श्वेताम्बर होने का ही सूचक है। निश्चय-द्वात्रिंशिका के सन्मतिसूत्रकार की कृति न होने से प्रस्तुत हेतु भी असत्य है।

५

यापनीयपक्ष

डॉ० उपाध्ये—सिद्धसेन के परम्परा से भिन्न मतों को उनके प्रगतिशील होने का ही लक्षण मानना उचित नहीं है, अपितु संभव है कि वे मान्यताएँ यापनीयसम्प्रदाय से सम्बन्ध रखती हों।

दिगम्बरपक्ष

वे मान्यताएँ यापनीयसम्प्रदाय से सम्बन्ध रखती हैं, इसे सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। इसलिए प्रमाण के बिना उन्हें यापनीयसम्प्रदाय की मान्यताएँ मान लेना अप्रामाणिक होगा। अभेदवाद की मान्यता दिगम्बरों के यौगपद्यवाद के निकट है, अतः उसके प्रतिपादक सिद्धसेन एक प्रगतिशील दिगम्बर सिद्ध होते हैं।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

६

यापनीयपक्ष

डॉ० उपाध्ये—सिद्धसेन कर्नाटक के थे, क्योंकि कर्नाटकोत्पन्न कुन्दकुन्द और मूलाचार के कर्त्ता वट्टकेर की गाथाओं से 'सन्मन्तिसूत्र' की गाथाओं का साम्य है। यापनीयों का सम्बन्ध भी कर्नाटक से रहा है। अतः सिद्धसेन यापनीय थे।

दिगम्बरपक्ष

कर्नाटक से सम्बन्ध तो कुन्दकुन्द और वट्टकेर जैसे दिगम्बराचार्यों का भी रहा है। अतः कर्नाटक से सम्बन्ध रखनेवाला हेतु उभयपक्षसाधक होने से निर्णायक नहीं है। हाँ, कुन्दकुन्द की गाथाओं और दिगम्बराचार्य वट्टकेरकृत मूलाचार की गाथाओं से सन्मतिसूत्र की गाथाओं का साम्य सिद्ध करता है कि सिद्धसेन दिगम्बर थे। उभयपक्ष-साधक होने से उपर्युक्त हेतु हेत्वाभास है।

७

यापनीयपक्ष

डॉ० पटोरिया—हरिवंशपुराण तथा पद्मपुराण के कर्त्ताओं ने सिद्धसेन को अपनी गुर्वावली में प्रदर्शित किया है। किन्तु ये दोनों ग्रन्थ भी यापनीय हैं, अतः इनके कर्त्ता यापनीय हैं। फलस्वरूप इनके गुरु सिद्धसेन भी यापनीय सिद्ध होते हैं।

दिगम्बरपक्ष

इन दोनों पुराणों के कर्त्ता दिगम्बर हैं, यापनीय नहीं। इसके प्रमाण १९वें और २१वें अध्यायों में द्रष्टव्य हैं। अतः यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि इनके द्वारा गुर्वावली में उल्लिखित सिद्धसेन दिगम्बर ही हैं। उक्त पुराणकर्त्ताओं के यापनीय न होने से सिद्ध है कि प्रस्तुत किया हेतु असत्य है।

यापनीयपक्ष

डॉ० पटोरिया—सन्मतिसूत्र का श्वेताम्बरग्रन्थों में भी आदरपूर्वक उल्लेख है। जीतकल्पचूर्णि में सन्मतिसूत्र को सिद्धिविनिश्चय के समान प्रभावक ग्रन्थ कहा गया है। सिद्धिविनिश्चय भी सम्भवतः यापनीय शिवार्यकृत ग्रन्थ है, क्योंकि शाकटायन-व्याकरण में शिवार्यकृत सिद्धिविनिश्चय ग्रन्थ का उल्लेख है। निशीथचूर्णि में भी इसी प्रकार 'सिद्धिविनिश्चय', 'सन्मति' आदि का दर्शनप्रभावक ग्रन्थ के रूप में उल्लेख है। इससे सिद्ध होता है कि सिद्धसेन यापनीय हैं।[१५६]

---

१५६. यापनीय और उनका साहित्य / पृ. १४३।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

दिगम्बरपक्ष

उपर्युक्त श्वेताम्बरचूर्णियों में दिगम्बराचार्य अकलंकदेवकृत 'सिद्धिविनिश्चय' का उल्लेख है। यह इससे स्पष्ट है कि उसका उल्लेख सन्मतिसूत्र जैसे समान विषयवाले ग्रन्थ के साथ किया गया है। यदि उसे शिवार्यकृत 'सिद्धिविनिश्चय' का उल्लेख भी माना जाय, तो शिवार्य भी दिगम्बर ही थे, यह 'भगवती-आराधना' नामक त्रयोदश अध्याय में सप्रमाण सिद्ध किया जा चुका है। अतः जिस प्रकार श्वेताम्बरग्रन्थों में सिद्धिविनिश्चय का आदरपूर्वक उल्लेख होने से अकलंकदेव या शिवार्य यापनीय सिद्ध नहीं होते, वैसे ही उनमें 'सन्मतिसूत्र' का आदरपूर्वक निर्देश होने से सिद्धसेन भी यापनीय सिद्ध नहीं होते। सिद्धिविनिश्चय ग्रन्थ के दिगम्बरग्रन्थ होने से स्पष्ट है कि बतलाया गया हेतु असत्य है।

यापनीयपक्ष

डॉ० पटोरिया-केवली के दर्शनज्ञानोपयोग के विषय में क्रमवाद का खण्डन और अभेदवाद का प्रतिपादन करते समय सन्मतिसूत्रकार क्रमवादी आचार्यों पर आक्षेप करते हुए कहते हैं—"जो लोग आगम का अवलम्बन कर कहते हैं कि जिस समय केवली जानते हैं, उस समय देखते नहीं हैं, वे ऐसा तीर्थंकरों की आशातना (अवमानना) के डर से कहते हैं।"[१५७] किन्तु तीर्थंकरों ने स्वयं कहा है कि केवली के केवलज्ञान और दर्शन सादि और अनन्त हैं। अतः जब दोनों उपयोग अनन्तकाल तक एक साथ रहते हैं, तब उनमें क्रम कैसे हो सकता है? इस प्रकार तीर्थंकर के वचन से ही क्रमवाद का खण्डन हो जाता है। अतः क्रमवाद को न मानने से तीर्थंकरों की आशातना नहीं होती।[१५८] यहाँ विचारणीय है कि यदि ग्रन्थकार दिगम्बर होते, तो उन्हें क्रमवाद का खण्डन करते समय आचार्यों को सूत्रावलम्बी तथा तीर्थङ्कराशातनाभीरु कहने की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि वे क्रमवाद के समर्थक आगमों को नहीं मानते। संकलित आगमग्रन्थों को प्रमाण माननेवाले के लिए ही किसी सूत्र को न मानना तीर्थंकराशातनाभीरु कहना, यही व्यक्त करता है कि वे भी सूत्रों को प्रामाणिक माननेवाली परम्परा के हैं।"[१५९]

---

१५७. क— केई भणंति जइया जाणइ तइया न पासइ जिणो त्ति।
सुत्तमवलंबमाणा तित्थयरासायणाभीरू॥ २/४॥
ख— आसायणा = आशातना (विपरीतवर्तन, अपमान, तिरस्कार) / 'पाइअ-सद्द-महण्णवो'/ पृ. १२६।

१५८. सुत्तम्मि चेव साई-अपज्जवसियं ति केवलं वुत्तं।
सुत्तासायणाभीरुहिं तं च दट्ठव्वयं होई॥ २/७॥ सन्मतिसूत्र।

१५९. यापनीय और उनका साहित्य / पृष्ठ १४४।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

(प्रतीत होता है कि 'संकलित आगमग्रन्थों को प्रमाण माननेवाले---' इस वाक्य के कुछ शब्द मुद्रित नहीं हो पाये, इसलिए अर्थ अस्पष्ट हो गया है। लेखिका सम्भवत: यह कहना चाहती हैं कि जो आचार्य संकलित आगमग्रन्थों को प्रमाण मानता हो, वह यदि किसी सूत्र को न माने, तो उसे सूत्रावलम्बी तथा तीर्थंकराशतनाभीरु कहा जा सकता है। ऐसे आचार्य को सन्मतिसूत्रकार का सूत्रावलम्बी एवं तीर्थंकराशातनाभीरु कहना यही व्यक्त करता है कि वे (सन्मतिसूत्रकार) भी सूत्रों को प्रामाणिक माननेवाली परम्परा के हैं।)

दिगम्बरपक्ष

सन्मतिसूत्रकार ने श्वेताम्बरों की दृष्टि से ही श्वेताम्बर-आगमों को सूत्र कहा है और स्पष्ट किया है कि जिन्हें वे सूत्र कहते हैं और उनका उल्लंघन करने से तीर्थंकर की आशातना मानते हैं, उनके ही अनुसार क्रमवाद का खण्डन होता है। उन्हें उन सूत्रों पर भी दृष्टि डालनी चाहिए। यदि वे ऐसा करेंगे तो उन्हें क्रमवाद की असत्यता का बोध हो जावेगा। इस प्रकार सन्मतिसूत्रकार ने श्वेताम्बरों की ही भाषा का प्रयोग कर उनके ही आगमों के आधार पर क्रमवाद का खण्डन किया है। प्रतिपक्षी मत को खण्डित करने की यह सर्वाधिक प्रामाणिक पद्धति है। इसलिए श्वेताम्बरमत के खण्डन के लिए श्वेताम्बर-आगमों को श्वेताम्बरों की ओर से 'सूत्र' शब्द से अभिहित करते हुए प्रमाणरूप में प्रस्तुत करने से यह सिद्ध नहीं होता कि सिद्धसेन स्वयं भी उन्हें प्रमाण मानते थे। वस्तुत: उन्होंने तो श्वेताम्बर-आगमों के अन्तर्विरोधों को दर्शाकर उन्हें अप्रामाणिक सिद्ध किया है। वे दर्शाते हैं कि क्रमवाद भी सूत्र के अवलम्बन से ही सिद्ध होता है और अक्रमवाद भी सूत्र पर ही आधारित है। और ये दोनों एक ही अपेक्षा से सिद्ध होते हैं, भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से नहीं। इस प्रकार सूत्र अन्तर्विरोधों से भरा हुआ है, अत: वह अप्रामाणिक है। सिद्धसेन **सन्मतिसूत्र** में स्पष्ट कहते हैं कि उपर्युक्त परस्परविरुद्ध दो मतों में से अक्रमवाद ही स्वसमय (सम्यग् मत) है, क्रमवाद परतीर्थमत अर्थात् मिथ्यामत है—

साइ-अपज्जवसियं ति दो वि ते समसमओ हवइ एवं।
परतित्थय वत्तव्वं च एगसमयंतरुप्पाओ॥ २/३१॥

इस गाथा के द्वारा सिद्धसेन ने श्वेताम्बर-आगममान्य क्रमवाद को मिथ्या सिद्ध कर दिगम्बरमान्य युगपद्वाद के निकटवर्ती अभेदवाद को समीचीन सिद्ध किया है। यह सिद्धसेन के श्वेताम्बर या यापनीय न होकर दिगम्बर होने का ज्वलन्त प्रमाण है।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

अपराजितसूरि ने भी श्वेताम्बर-आगमों के लिए 'सूत्र' शब्द का प्रयोग करते हुए उनसे प्रमाण देकर यह सिद्ध किया है कि उनमें भी एकान्त अचेलत्व को ही मोक्षमार्ग प्रतिपादित किया गया है, पर इससे वे श्वेताम्बर या यापनीय सिद्ध नहीं होते। उन्होंने अपनी विजयोदयाटीका में सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति, गृहस्थमुक्ति और केवलिभुक्ति का स्पष्ट शब्दों में निषेध किया है, जिससे उनका दिगम्बरत्व प्रमाणित है। यह अपराजित-सूरिवाले चतुर्दश अध्याय में सिद्ध किया जा चुका है।

इस प्रकार सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेन श्वेताम्बर-आगमों को प्रमाण माननेवालों की परम्परा के नहीं हैं, अतः उन्हें उक्त परम्परा का मानने का हेतु असत्य है।

यापनीयपक्ष

डॉ० पटोरिया—सन्मतिसूत्र की **'एवं एगे आया'** (१/४९), **'जं च पुण'** (३/११) तथा **'जंपंति अत्थि'** (३/१३) गाथाएँ श्वेताम्बर-आगमों की गाथाओं एवं सूत्रों से साम्य रखती हैं।[१६०] अतः श्वेताम्बर-आगमों का अनुसरण करने से सन्मतिसूत्रकार यापनीय सिद्ध होते हैं।[१६१]

दिगम्बरपक्ष

इसका समाधान पूर्व में अनेकत्र किया जा चुका है कि दिगम्बरग्रन्थों की जिन गाथाओं का श्वेताम्बरग्रन्थों की गाथाओं या सूत्रों से अंशतः या पूर्णतः साम्य है, वे दोनों सम्प्रदायों को अपनी अविभक्त निर्ग्रन्थ अवस्थाक की समान आचार्य-परम्परा से उत्तराधिकार में प्राप्त हुई हैं। अतः ग्रन्थ में उनकी उपलब्धि के आधार पर सम्प्रदायविशेष का निर्णय नहीं किया जा सकता। इस प्रकार यह हेतु भी असत्य है।

यापनीयपक्ष

डॉ० पटोरिया—यापनीयग्रन्थ मूलाचार की गाथाओं से सन्मतिसूत्र की गाथाओं का साम्य है। डॉ० उपाध्ये ने अपने पूर्वोक्त ग्रन्थ की प्रस्तावना में उन गाथाओं की सूची दी है। यतः मूलाचार यापनीयग्रन्थ है, अतः यह गाथासाम्य सिद्धसेन के यापनीय होने का प्रमाण है।[१६२]

दिगम्बरपक्ष

यह भी पूर्व में सिद्ध किया जा चुका है कि मूलाचार विशुद्ध दिगम्बरग्रन्थ है, अतः उसकी गाथाओं से सन्मतिसूत्र की गाथाओं का साम्य होना सन्मतिसूत्र के दिगम्बर-

---

१६०. 'एगे आया। एगे दंडे। एगा किरिया।' स्थानांगसूत्र २/३/४

१६१. यापनीय और उनका साहित्य/पृ. १४४।

१६२. वही/पृ. १४५।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

ग्रन्थ होने का ही प्रमाण है। डॉ० उपाध्ये ने उक्त गाथासाम्य से केवल यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि यतः वट्टकेर कर्णाटक के थे, अतः सिद्धसेन भी कर्णाटक के थे। उन्होंने मूलाचार के कर्त्ता वट्टकेर को यापनीय सिद्ध नहीं किया है। यतः मूलाचार यापनीयग्रन्थ नहीं है, अतः कथित हेतु भी असत्य है।

यापनीयपक्ष

डॉ० पटोरिया—मदनूर (जिला नेल्लोर) से प्राप्त एक संस्कृत शिलालेख[१६३] में यह उल्लेख है कि कोटिमडुवगण में, जो यापनीयसंघ की शाखा थी, दिवाकर नाम के मुनिपुंगव हुए। यदि यही दिवाकर सिद्धसेन हैं, तो उनके यापनीय होने का निश्चित प्रमाण मिल जाता है।[१६४]

दिगम्बरपक्ष

इसका खण्डन माननीय डॉ० सागरमल जी के निम्नलिखित शब्दों से हो जाता है—"इस अभिलेख में उल्लिखित दिवाकर सिद्धसेन दिवाकर हैं, यह कहना कठिन है, क्योंकि इसमें इन दिवाकर के शिष्य श्रीमन्दिरदेवमुनि का उल्लेख है, जिनके द्वारा अधिष्ठित कटकाभरण जिनालय को यह दान दिया गया था। यदि दिवाकर, मन्दिरदेव के गुरु हैं, तो वे सिद्धसेन दिवाकर न होकर अन्य कोई दिवाकर हैं, क्योंकि इस अभिलेख के अनुसार मन्दिरदेव का काल ईसवी सन् ९४५ अर्थात् विक्रम सं० १००२ है। इनके गुरु इनसे ५० वर्ष पूर्व भी माने जायँ, तो वे दसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में ही सिद्ध होते हैं, जब कि सिद्धसेन दिवाकर तो किसी भी स्थिति में पाँचवीं शती से परवर्ती नहीं हैं।" (जै.ध.या.स./पृ.२३८)। इस प्रकार सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेन को यापनीय सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत किया गया यह हेतु भी असत् है।

इन प्रमाणों और युक्तियों के प्रकाश में हम देखते हैं कि सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेन को यापनीय-आचार्य सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत किये गये उपर्युक्त हेतु असत्य एवं हेत्वाभास हैं। पूर्व प्रकरणों में यह भी सिद्ध हो चुका है कि वे श्वेताम्बर-परम्परा के भी नहीं हैं। दर्शाये गये सभी प्रमाणों और युक्तियों से यही सिद्ध होता है कि वे दिगम्बराचार्य हैं।

---

१६३. "यापनीयसंघप्रपूज्यकोटिमडुवगणेशमुख्यो यः--- दिवाकराख्यो मुनिपुङ्गवोऽभूत् --- श्रीमन्दिरदेवमुनिः --- अभवदस्य शिष्यो---।" (जैनशिलालेखसंग्रह / माणिकचन्द्र / भाग २ / लेख १४३ / पृ.१८० / शक सं.८६७, सन् ९४५ ई.)।

१६४. यापनीय और उनका साहित्य / पृ. १४५।

✧✧✧

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

अष्टम प्रकरण

उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थसंघ के पक्षधर हेतुओं की असत्यता

पूर्वोल्लिखित विद्वान् ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेन सम्प्रदायभेद की पूर्ववर्ती उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थ-परम्परा में उत्पन्न हुए थे। वे लिखते हैं कि सिद्धसेन विक्रम की चौथी शताब्दी में हुए हैं। "उस युग में श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय ऐसे सम्प्रदाय अस्तित्व में नहीं आ पाये थे। श्वेताम्बर और यापनीय सम्प्रदाय के सम्बन्ध में स्पष्ट नामनिर्देश के साथ जो सर्वप्रथम उल्लेख उपलब्ध होते हैं, वे लगभग ई० सन् ४७५ तदनुसार विक्रम सं० ५३२ के लगभग अर्थात् विक्रम की छठी शताब्दी के पूर्वार्ध के हैं। अतः काल के आधार पर सिद्धसेन को किसी सम्प्रदायविशेष के साथ नहीं जोड़ा जा सकता, क्योंकि उस युग तक न तो सम्प्रदायों का नामकरण हुआ था और न ही वे अस्तित्व में आये थे।" (जै.ध.या.स./ पृ.२३१-२३२)।

यही बात वे इन शब्दों में दुहराते हैं—"सिद्धसेन दिगम्बर, श्वेताम्बर एवं यापनीय परम्पराओं के अस्तित्व में आने के पूर्व ही हो चुके थे। वे उत्तरभारत की निर्ग्रन्थधारा में हुए हैं, जो आगे चलकर श्वेताम्बर और यापनीय के रूप में विभाजित हुई। यापनीयपरम्परा के ग्रन्थों में सिद्धसेन का आदरपूर्वक उल्लेख उनके अपनी पूर्वज धारा के एक विद्वान् आचार्य होने के कारण ही है।" (वही / पृ. २३६)।

निरसन

प्रस्तुत ग्रन्थ के द्वितीय अध्याय में सिद्ध किया जा चुका है कि उत्तरभारत में तो क्या, भारत के किसी भी कोने में सचेलाचेल-निर्ग्रन्थ-परम्परा नाम की या निर्ग्रन्थ नाम के साथ सचेल और अचेल दोनों लिंगों से मुक्ति माननेवाली कोई परम्परा ही नहीं थी। इसलिए सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेन उक्त परम्परा के आचार्य नहीं थे।

तथा सिद्धसेन को जो विक्रम की चतुर्थ शताब्दी में हुआ बतलाया गया है, वह समीचीन नहीं है। पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने पूर्वोद्धृत लेख में सप्रमाण सिद्ध किया है कि सिद्धसेन ने सन्मतिसूत्र में जिस उपयोग-क्रमवाद का खण्डन किया है, उसकी प्रतिष्ठा विक्रम की छठी शताब्दी (वि० सं० ५६२) में श्वेताम्बर-परम्परा में हुए भद्रबाहु द्वितीय ने आवश्यकनिर्युक्ति में की है। और उसका सर्वप्रथम खण्डन विक्रम की सातवीं शती में हुए श्वेताम्बर जिनभद्रगणि-क्षमाश्रमण ने विशेषावश्यकभाष्य

में तथा दिगम्बर अकलंकदेव ने तत्त्वार्थराजवार्तिक में किया है। इस प्रकार सिद्धसेन विक्रम की छठी और सातवीं शताब्दी के बीच हुए थे। तथा विक्रम की ५वीं-६वीं शताब्दी में विद्यमान पूज्यपादस्वामी की सर्वार्थसिद्धि टीका में क्रमवाद का खण्डन नहीं मिलता, जब कि उनके बाद हुए अकलंकदेव के तत्त्वार्थराजवार्तिक (६/१०) में मिलता है। इससे सिद्ध है कि वे पूज्यपाद देवनन्दी के बाद हुए हैं। पूज्यपाद ने जैनेन्द्रव्याकरण में **'वेत्तेः सिद्धसेनस्य'** सूत्र के द्वारा जिन सिद्धसेन का उल्लेख किया है, वे नौवीं द्वात्रिंशिका के कर्त्ता सिद्धसेन हैं, न कि सन्मतिसूत्र के कर्ता सिद्धसेन। इस तरह सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेन विक्रम की छठी शताब्दी के उत्तरार्ध में और सातवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में हुए हैं, न कि चौथी शताब्दी में। इस स्थितिकाल के परिप्रेक्ष्य में भी उक्त ग्रन्थलेखक की यह कल्पना धराशयी हो जाती है कि सिद्धसेन श्वेताम्बर और यापनीयों की पूर्वजपरम्परा अर्थात् उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थपरम्परा में उत्पन्न हुए थे, क्योंकि विक्रम की छठी शती के उत्तरार्ध में तो श्वेताम्बरों और यापनीय दोनों का अस्तित्व था। फलस्वरूप यही निर्णीत होता है कि सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेन दिगम्बराचार्य थे।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

एकोनविंश अध्याय

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

एकोनविंश अध्याय

रविषेणकृत पद्मपुराण

प्रथम प्रकरण

पद्मपुराण के दिगम्बर ग्रन्थ होने के प्रमाण

पं० नाथूराम जी प्रेमी ने आचार्य रविषेण को दिगम्बरपरम्परा के सेनसंघ से सम्बद्ध माना है। वे लिखते हैं—"रविषेण ने न तो अपने किसी संघ या गण-गच्छ का कोई उल्लेख किया है और न स्थानादि की ही चर्चा। परन्तु सेनान्त नाम से अनुमान होता है कि शायद वे सेनसंघ के हों और इनकी गुरुपरम्परा के पूरे नाम इन्द्रसेन, दिवाकरसेन, अर्हत्सेन और लक्ष्मणसेन हों।" (जै.सा.इ./द्वि.सं./पृ.८८)। 'जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय' ग्रन्थ के लेखक डॉ० सागरमल जी ने भी पहले एक लेख में रविषेणकृत पद्मपुराण (पद्मचरित) को दिगम्बरग्रन्थ ही माना था। उन्होंने उसमें लिखा है—"दिगम्बरपरम्परा में पद्मपुराण के रचयिता रविषेण (७वीं शताब्दी) और अपभ्रंश-पउमचरिउ के रचयिता यापनीय स्वयम्भू ने विमलसूरि का ही पूरी तरह अनुकरण किया है। पद्मपुराण तो 'पउमचरिय' का ही विकसित संस्कृत-रूपान्तरण मात्र है। यद्यपि उन्होंने उसे दिगम्बर-परम्परा के अनुरूप ढालने का प्रयास किया है।" (डॉ.सा.म. जै.अभि.ग्र./पृ.६४८)।

किन्तु श्रीमती डॉ० कुसुम पटोरिया ने इस दिगम्बरग्रन्थ को यापनीयग्रन्थ बतलाया है, अतः उसे देखकर डॉ० सागरमल जी ने भी श्रीमती पटोरिया की हाँ में हाँ मिला दी और उसे यापनीयग्रन्थ घोषित कर दिया। इसके पक्ष में उक्त विदुषी ने जो हेतु बतलाये हैं, उन्हीं को उक्त विद्वान् ने अपने ग्रन्थ में उद्धृत कर दिया है। (जै.ध.या.स./पृ. १७७-१८०)। मान्या विदुषी द्वारा प्रस्तुत हेतुओं का उल्लेख और मीमांसा बाद में की जायेगी। पहले पद्मपुराण में प्रतिपादित उन यापनीयमत-विरोधी सिद्धान्तों का निरूपण किया जा रहा है, जिनसे सिद्ध होता है कि वह यापनीयग्रन्थ नहीं, अपितु दिगम्बरग्रन्थ है।

पद्मपुराण में यापनीयमत-विरुद्ध सिद्धान्त

१

वैकल्पिक सवस्त्र-मुनिलिंग का निषेध

१.१. मुनियों का एक ही लिंग : दिगम्बरलिंग

आचार्य रविषेण ने पद्मपुराण में वर्णन किया है कि केवलज्ञानप्राप्ति के अनन्तर भगवान् ऋषभदेव समवसरण में गणधर की प्रार्थना पर धर्म का उपदेश देते हैं। उसमें वे धर्म के दो भेद बतलाते हैं : श्रावकधर्म और यतिधर्म, तथा यतियों के धर्म को **व्योमवाससों** (आकाश-रूपी-वस्त्रधारियों) का धर्म कहते हैं, जिससे स्पष्ट होता है कि रविषेण की मान्यतानुसार भगवान् ऋषभदेव ने दिगम्बरलिंगधारी को ही यति या मुनि कहा है, सवस्त्रलिंगधारी को नहीं। देखिए—

सागाराणां यतीनां च धर्मोऽसौ द्विविधः स्मृतः।
तृतीयं ये तु मन्यन्ते दग्धास्ते मोहवह्निना॥ ४/४५॥

अणुव्रतानि पञ्च स्युस्त्रिप्रकारं गुणव्रतम्।
शिक्षाव्रतानि चत्वारि धर्मोऽयं गृहमेधिनाम्॥ ४/४६॥

सर्वारम्भपरित्यागं कृत्वा देहेऽपि निःस्पृहाः।
कालधर्मेण संयुक्ता गतिं ते यान्ति शोभनाम्॥ ४/४७॥

महाव्रतानि पञ्चस्युस्तथा समितयो मताः।
गुप्तयस्तिस्र उद्दिष्टा **धर्मोऽयं व्योमवाससाम्**॥ ४/४८॥

धर्मेणानेन संयुक्ताः शुभध्यानपरायणाः।
यान्ति नाकं च मोक्षं च हित्वा पूतिकलेवरम्॥ ४/४९॥

येऽपि **जातस्वरूपाणां** परमब्रह्मचारिणाम्।
स्तुतिं कुर्वन्ति भावेन तेऽपि धर्ममवाप्नुयुः॥ ४/५०॥

तेन धर्मप्रभावेण कुगतिं न व्रजन्ति ते।
लभन्ते बोधिलाभं च मुच्यन्ते येन किल्विषात्॥ ४/५१॥

इत्यादि देवदेवेन भाषितं धर्ममुत्तमम्।
श्रुत्वा देवा मनुष्याश्च परमामोदमागताः॥ ४/५२॥

पद्मपुराण/भाग १।

अनुवाद—"यह धर्म दो प्रकार का है : सागारधर्म और यतिधर्म। जो इनके अतिरिक्त तीसरा धर्म मानते हैं, वे मिथ्यात्व से ग्रस्त हैं। पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

और चार शिक्षाव्रत, यह गृहस्थों का धर्म है। जो गृहस्थ अन्तिम समय में सर्व आरंभ का परित्याग कर शरीर में भी निःस्पृह हो जाते हैं तथा समताभाव से मरण करते हैं, वे उत्तम गति को प्राप्त होते हैं।'' (४५-४७)

''**पाँच महाव्रत, पाँच समितियाँ और तीन गुप्तियाँ, यह व्योमवाससों (आकाशाम्बरों=दिगम्बरों) का अर्थात् यतियों या मुनियों का धर्म है।** जो इस दिगम्बरों अर्थात् मुनियों के धर्म को धारणकर शुभध्यान में लीन होते हैं, वे दुर्गन्धमय शरीर को छोड़कर स्वर्ग या मोक्ष को प्राप्त होते हैं।'' (४८-४९)।

''और जो जीव परमब्रह्मचारी—**जन्मजातरूपधारियों** (दिगम्बरमुनियों) की भावपूर्वक स्तुति करते हैं, वे धर्म को प्राप्त हो सकते हैं। वे उस धर्म के प्रभाव से कुगतियों में नहीं जाते, अपितु उस रत्नत्रयधर्म को प्राप्त कर लेते हैं, जो उन्हें पाप से मुक्त कर देता है। इस प्रकार देवाधिदेव भगवान् ऋषभदेव के द्वारा उपदिष्ट धर्म को सुनकर देव और मनुष्य परम हर्ष को प्राप्त हुए।'' (५०-५२)।

यहाँ रविषेण ने **नग्न** अर्थ के वाचक **व्योमवासस्** और **जातस्वरूप** शब्दों को **मुनि** शब्द के पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त किया है, जिससे स्पष्ट है कि वे वस्त्रधारी को मुनि नहीं मानते। तथा उन्होंने यह वर्णन किया है कि **तीर्थंकर वृषभदेव ने केवल व्योमवसन-लिंगरूप अर्थात् नाग्न्यलिंगरूप जिनकल्प को ही मुनियों का धर्म बतलाया है।** इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वे यापनीयमत में मान्य मुनियों के सचेल स्थविरकल्प को तीर्थंकरोपदिष्ट नहीं मानते। इन तथ्यों से सिद्ध होता है कि वे यापनीयमतानुयायी नहीं हैं, अपितु दिगम्बरमतावलम्बी हैं।

रविषेण ने निम्नलिखित श्लोक में भी दिगम्बरलिंग को ही मुनियों का एकमात्र लिंग बतलाया है—

सागारं निरगारं च द्विधा चारित्रमुत्तमम्।
सावलम्बं गृहस्थानां निरपेक्षं खवाससाम्॥ ३३/१२१॥

पद्मपुराण/भाग २।

अनुवाद—''उत्तम चारित्र दो प्रकार का है : सागार और अनगार। जिसमें बाह्य पदार्थों का अवलम्बन होता है, वह गृहस्थों का चारित्र (सागारचारित्र) है और जो बाह्य पदार्थों के अवलम्बन से रहित होता है, वह आकाशरूपी वस्त्र धारण करनेवालों का (**ख-वाससाम्**) अर्थात् दिगम्बर मुनियों का चारित्र (अनगारचारित्र) है।''

इस श्लोक में दिगम्बरों को ही अनगार या मुनि कहा गया है, सवस्त्र साधु को नहीं। दिगम्बर साधु के अतिरिक्त शेष सभी वस्त्रादि-बाह्यपदार्थों का अवलम्बन

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

करनेवालों को **गृहस्थ** संज्ञा दी गई है। इससे स्पष्ट है कि पद्मपुराण दिगम्बरग्रन्थ है, यापनीयग्रन्थ नहीं। आचार्य रविषेण आगे कहते हैं—

सुदुष्करं विगेहानां चारित्रमवधार्य सः।
पुनः पुनर्मतिं चक्रेऽणुव्रतेष्वेव पार्थिवः॥ ३३/१२३॥

पद्मपुराण / भाग २।

अनुवाद—"राजा वज्रकर्ण ने मुनियों के चारित्र को अत्यन्त कठिन समझकर अणुव्रत धारण करने का ही बार-बार विचार किया।"

इससे भी स्पष्ट होता है कि राजा के सामने दिगम्बरमुनि-मार्ग के अलावा अणुव्रतधारी श्रावक का ही दूसरा मार्ग अवशिष्ट था, यापनीयपरम्परा के समान सवस्त्र स्थविरकल्पी मुनियों के सरल अपवादमार्ग का विकल्प नहीं था। यह भी ग्रन्थ के यापनीय न होकर दिगम्बरीय होने का प्रमाण है।

१.२. दिगम्बर मुनि की ही मुनि, श्रमण, साधु आदि संज्ञाएँ

निम्नलिखित पद्यों में आचार्य रविषेण ने **निरम्बर** (दिगम्बर) मुनि को ही यमी, वीतराग, योगी, ध्यानी, साधु, आचार्य, अनगार, भिक्षु और श्रमण नामों से अभिहित किया है—

यमिनो वीतरागाश्च निर्मुक्ताङ्गा **निरम्बराः**।
योगिनो ध्यानिनो वन्द्या ज्ञानिनो निःस्पृहा बुधाः॥ १०९/८८॥

निर्वाणं साधयन्तीति **साधवः** परिकीर्त्तिताः।
आचार्या यत्सदाचारं चरन्त्याचारयन्ति च॥ १०९/८९॥

अनगारगुणोपेता **भिक्षवः** शुद्धभिक्षया।
श्रमणाः सितकर्माणः परमश्रमवर्त्तिनः॥ १०९/९०॥

पद्मपुराण / भाग ३।

इससे सूचित होता है कि रविषेण सवस्त्र साधु को **साधु** संज्ञा का पात्र नहीं मानते। यह उनके यापनीय न होने का सबूत है।

१.३. 'निर्ग्रन्थ' शब्द दिगम्बर का वाचक

रविषेण ने दिगम्बर को ही **निर्ग्रन्थ** कहा है। राम सुव्रतमुनि के पास जाकर निर्ग्रन्थदीक्षा की याचना करते हैं। जब वे अनुमति दे देते हैं तब राम आहार, मुकुट, कुण्डल, वस्त्र आदि का परित्याग कर पर्यङ्कासन में विराजमान हो जाते हैं और शिर के बालों को अँगुलियों से उखाड़कर अलग कर देते हैं—

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

त्रियामायामतीतायां भास्करेऽभिनिवेदिते।
प्रणम्य राघवः साधून् वव्रे **निर्ग्रन्थदीक्षणम्**॥ ११९/१९॥

आहारं कुण्डलं **मौलिमपनीयाम्बरं** तथा।
परमार्थार्पित - स्वान्तस्तनु - लग्न - मलावलिः॥ ११९/२६॥

श्वेताब्जसुकुमाराभिरङ्गुलीभिः शिरोरुहान्।
निराचकार काकुत्स्थः पर्यङ्कासनमास्थितः॥ ११९/२७॥

पद्मपुराण/भाग ३।

अधोलिखित पद्यों में भी **निर्ग्रन्थ** शब्द को दिग्वासस् और दिगम्बर शब्दों के पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त किया गया है—

अत्यन्तदुस्सहा चेष्टा **निर्ग्रन्थानां** महात्मनाम्।
परिकर्मविशुद्धस्य जायते सुखसाधना॥ ३२/१४३॥

अनर्घ्यरत्नसदृशं तपो **दिग्वाससामिति**।
एवमप्यक्षमं वक्तुं परस्तस्योपमा कुतः॥ ३२/१४५॥

पद्मपुराण/भाग २।

इसी तरह सीता जी जब राम से कहती हैं—"हे नरश्रेष्ठ! तप से कृश शरीरवाले इस दिगम्बर-युगल को देखो।" तब राम चकित होकर उत्सुकता से पूछते हैं—"हे साध्वि! कहाँ है, कहाँ है वह निर्ग्रन्थ युगल?"—

पश्य पश्य नरश्रेष्ठ! तपसा कृशविग्रहम्।
दैगम्बरं परिश्रान्तं भदन्तयुगलं शुभम्॥ ४१/१८॥

क्व तत्क्व तत्प्रिये साध्वि पण्डिते चारुदर्शने।
निर्ग्रन्थयुगलं दृष्टं भवत्या गुणमण्डने॥ ४१/१९॥

पद्मपुराण/भाग २।

इस प्रकार दिगम्बर मुनि को ही निर्ग्रन्थ कहकर आचार्य रविषेण ने वस्त्रधारी मुनि के निर्ग्रन्थ कहे जाने का निषेध किया है, जो उनके यापनीय न होने और दिगम्बर होने का सूचक है।

१.४. वस्त्र का भी परित्याग 'अशेषपरिग्रहत्याग' का लक्षण

मुकुट, कुण्डल और वस्त्र का परित्याग कर देनेवाले राम की शोभा का वर्णन करते हुए रविषेण कहते हैं—

रराज सुतरां **रामस्त्यक्ताशेषपरिग्रहः**।
सैंहिकेयविनिर्मुक्तो हंसमण्डलविभ्रमः॥ ११९/२८॥

पद्मपुराण/भाग ३।

अनुवाद—"अशेष परिग्रह का त्याग कर देने पर राम इस प्रकर सुशोभित हो रहे थे, जैसे राहु से मुक्त सूर्य।"

इस तरह रविषेण ने वस्त्र का भी त्याग कर देनेवाले को ही अशेषपरिग्रह का त्यागी कहा है और निम्नलिखित श्लोकों में जातरूपधरत्व (नग्नरूप) को ही बाह्याभ्यन्तर परिग्रह के त्याग का लक्षण बतलाया है—

भरतोऽपि महातेजा महाव्रतधरो विभुः।
धराधर-गुरुस्त्यक्त-बाह्याभ्यन्तर-परिग्रहः॥ ८७/९॥

जातरूपधरः सत्यकवचः क्षान्तिसायकः।
परीषहजयोद्युक्तस्तपःसंयत्यवर्तत॥ ८७/१२॥

पद्मपुराण/भाग ३।

अनुवाद—"भरत भी महातेजस्वी, महाव्रतधारी, विभु , पर्वत के समान स्थिर तथा बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह के त्यागी थे। यथाजातरूप (नग्नरूप) धारण कर, सत्यरूपी कवच एवं क्षमारूपी बाणों से सुसज्जित हो, परीषहों को जीतने के लिए तपरूपी युद्धभूमि में विचरण कर रहे थे।"

इन वचनों से ध्वनित होता है कि आचार्य रविषेण अपवादरूप से वस्त्रधारण करनेवाले साधु को अशेषपरिग्रह या बाह्याभ्यन्तर-परिग्रह का त्यागी नहीं मानते। फल-स्वरूप वह अपरिग्रह-महाव्रतधारी न होने से उनकी दृष्टि में साधु नहीं है। इससे पता चल जाता है कि रविषेण यापनीय नहीं थे।

१.५. सभी के द्वारा दिगम्बर-दीक्षा का ग्रहण

राम के दिगम्बर-दीक्षा ग्रहण करने पर उनके साथ सोलह हजार से अधिक लोग दिगम्बर मुनि ही बनते हैं। एक भी पुरुष को अपवादलिंगधारी सवस्त्र मुनि बनते हुए वर्णित नहीं किया गया। देखिए **पद्मपुराण** (भाग ३) के निम्नलिखित श्लोक—

एवं श्रीमति निष्क्रान्ते रामे जातानि षोडश।
श्रमणानां सहस्राणि साधिकानि महीपते॥ ११९/४१॥

सप्तविंशसहस्राणि प्रधानवरयोषिताम्।
श्रीमती-श्रमणीपार्श्वे बभूवुः परमार्यिकाः॥ ११९/४२॥

अनुवाद—(गौतम स्वामी राजा श्रेणिक से कहते हैं) "हे राजन्! इस प्रकार श्रीमान् राम के प्रव्रजित होने पर सोलह हजार से अधिक लोग श्रमण हुए और सत्ताईस हजार प्रमुख-प्रमुख स्त्रियाँ श्रीमती नामक श्रमणी के पास आर्यिका हुईं।"

पूर्वशीर्षक १.२ के अन्तर्गत उद्धृत पद्मपुराण के श्लोकों (१०९/८८-९०) में निरम्बर (दिगम्बर) मुनि को ही श्रमण कहा गया है तथा राम ने दिगम्बरदीक्षा ही ग्रहण की थी। (देखिये, पूर्वशीर्षक १.३), अतः उनके साथ दीक्षित लोगों का दिगम्बरदीक्षा ग्रहण करना स्वतः सिद्ध है।

लङ्का में भी रावण की मृत्यु से निर्वेद को प्राप्त उसके अनुयायी दैगम्बरी दीक्षा ही लेते हैं, यापनीयों की अपवादमार्गी सवस्त्र दीक्षा कोई भी ग्रहण नहीं करता—

केचित्संसारभावेभ्यो निर्वेदं परमागताः।
चक्रुर्दैगम्बरीं दीक्षां मानसे जिनभाषिताम्॥ ७८/५२॥
पद्मपुराण/भाग ३।

राम के वनगमन से शोकसन्तप्त अनेक राजा भी निर्ग्रन्थ (दिगम्बर) दीक्षा ही लेते हुए दिखलाये गये हैं।[१] राजा अतिवीर्य श्रुतिधर मुनि से दैगम्बरी दीक्षा की ही याचना करता है।[२] देशभूषण और कुलभूषण राजकुमार भी दैगम्बरी दीक्षा का ही आश्रय लेते हैं।[३] मृदुमति नामक ब्राह्मणपुत्र भी उसी का अवलम्बन करता है।[४]

इससे स्पष्ट है कि पद्मपुराण अपवादमार्गी सवस्त्र मुनिदीक्षा को स्थान देनेवाले यापनीयमत का ग्रन्थ नहीं है।

१.६. सभी को दिगम्बर मुनि बनने का उपदेश

गौतम स्वामी, राजा श्रेणिक तथा उनके साथ आये सामन्तादि को भी श्रीराम के ही मार्ग का अनुसरण करने (दिगम्बर मुनि बनने) का उपदेश देते हैं—

युष्मानपि वदाम्यस्मिन् सर्वानिह समागतान्।
रमध्वं तत्र सन्मार्गे रतो यत्र रघूत्तमः॥ ११९/५५॥
पद्मपुराण/भाग ३।

---

१. पद्मपुराण/भाग २/३२/७२-७३।
२. जगाद नाथ वाञ्छामि दीक्षां दैगम्बरीमिति॥ ३७/१६०॥ पद्मपुराण/भाग २।
३. दीक्षां दैग्वाससीं श्रितौ॥ ३९/१७४॥ पद्मपुराण/भाग २।
४. पादमूलेऽभजद्दीक्षां सर्वग्रन्थविमोचिताम्॥ ८५/१३७॥ पद्मपुराण/भाग ३।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

गौतम स्वामी ने यह किसी से भी नहीं कहा कि जो परीषहादि सहने में असमर्थ होने के कारण दिगम्बरदीक्षा ग्रहण न कर सकता हो, वह अपवादमार्ग के रूप में सवस्त्र मुनि-दीक्षा ग्रहण करे। इससे सिद्ध होता है कि रविषेण यापनीयमान्य सवस्त्र मुनिदीक्षा के विरुद्ध थे।

१.७. वस्त्रपात्रादि उपकरणधारी कुलिंगी हैं

रविषेण ने गौतम स्वामी के मुख से वस्त्रपात्रादि उपकरणधारी साधुओं को कुलिंगी और निर्ग्रन्थ (अशेषपरिग्रह-त्यागी यथाजातरूपधर) मुनियों को ही पूज्य कहलवाया है—

नानोपकरणं दृष्ट्वा साधनं शक्तिवर्जिताः।
निर्दोषमिति भाषित्वा गृह्णते मुखराः परे॥ ११९/५९॥

व्यर्थमेव **कुलिङ्गास्ते** मूढैरन्यैः पुरस्कृताः।
प्रखिन्नतनवो भारं वहन्ति भृतका इव॥ ११९/६०॥

ऋषयस्ते खलु येषां परिग्रहे नास्ति याचने वा बुद्धिः।
तस्मात्ते **निर्ग्रन्थाः**साधुगुणैरन्विता **बुधैः संसेव्याः**॥ ११९/६१॥
पद्मपुराण/भाग ३।

इन वचनों से तो इस निर्णय में सन्देह ही नहीं रहता कि रविषेण को यापनीय साधुओं का वस्त्रपात्रमय अपवादलिंग सर्वथा अमान्य था, इसलिए वे यापनीय नहीं, अपितु दिगम्बर थे।

१.८. जैनलिंग से ही मोक्ष की प्राप्ति

रविषेण ने बतलाया है कि जिनलिंग (दिगम्बरमुद्रा) के ही द्वारा मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसका निरूपण करते हुए वे लिखते हैं—

"अथातोऽपरे भव्यधर्मस्थिताः प्राणिनो देवदेवस्य वाग्भिर्भृशं भाविताः सिद्धिमार्गानुसारेण शीलेन सत्येन शौचेन सम्यक्तपोदर्शनज्ञानचारित्रयोगेन चात्युत्कटाः येन ये यावदष्टप्रकारस्य कुर्वन्ति निर्णाशनं कर्मणस्तावदुत्तुङ्गभूत्यन्विताः स्वर्भवानां भवन्त्युत्तमाः स्वामिनस्तत्र चाम्भोधितुल्यान् प्रभूताननेकप्रभेदान् समासाद्य सौख्यं ततः प्रच्युता धर्मशेषस्य लब्ध्वा फलं स्फीतभोगान् श्रियं प्राप्य बोधिं, परित्यज्य राज्यादिकं **जैनलिङ्गं समादाय** कृत्वा तपोऽत्यन्तघोरं समुत्पाद्य सद्ध्यानिनः केवलज्ञानमायुःक्षये कृत्स्नकर्मप्रमुक्ता भवन्तस्त्रिलोकाग्रमारुह्य सिद्धा अनन्तं शिवं सौख्यमात्मस्वभावं परिप्राप्नुवन्त्युत्तमम्।" (पद्मपुराण/भाग ३/पर्व ७८/श्लोक ६२ के अनन्तर/पृ.८३)।

अनुवाद—"जो भव्य प्राणी देवाधिदेव जिनेन्द्र भगवान् के वचनों से अत्यन्त प्रभावित हो मोक्षमार्ग के अनुरूप शील, सत्य, शौच, सम्यक् तप, दर्शन, ज्ञान और चारित्र से युक्त होते हुए अष्ट कर्मों के नाश का प्रयत्न करते हैं, वे उत्कृष्ट वैभव से युक्त हो, देवों के उत्तम स्वामी होते हैं और वहाँ अनेक सागर पर्यन्त नाना प्रकार के सुख भोगते हैं। तदनन्तर वहाँ से च्युत हो अवशिष्ट धर्म के फलस्वरूप प्रचुर भोग और लक्ष्मी प्राप्त करते हैं। अन्त में रत्नत्रय का आश्रय ले, राज्यादि का परित्याग कर **जैनलिंग (दिगम्बरमुद्रा)** धारण करते हैं। फिर अत्यन्त घोर तप कर शुक्लध्यान के द्वारा केवलज्ञान प्राप्त करते हैं। पश्चात् आयु का क्षय होने पर समस्त कर्मों से मुक्त होकर लोकाग्र पर आरूढ़ हो सिद्धावस्था में अनन्त आत्मोत्थ उत्तम सुख का अनुभव करते हैं।

इस प्रकार आचार्य रविषेण के मत में जैनलिंग के ही द्वारा मोक्ष की प्राप्ति होती है। और उन्होंने सर्वत्र दिगम्बरमुद्रा को ही जैनलिंग प्रतिपादित किया है। कहीं भी आपवादिक सवस्त्र मुनिलिंग को जैनलिंग या जिनमुद्रा नहीं कहा। इससे सिद्ध है कि रविषेण यापनीयमतावलम्बी नहीं हैं, अपितु दिगम्बराचार्य ही हैं।

२

वस्त्रमात्रपरिग्रहधारी की क्षुल्लक संज्ञा

आचार्य रविषेण ने वस्त्रमात्र-परिग्रहधारी मोक्षसाधक को स्थविरकल्पी साधु या अपवादमार्गी सवस्त्र साधु की संज्ञा नहीं दी, अपितु **क्षुल्लक** संज्ञा दी है, जो दिगम्बर-परम्परा में उत्कृष्ट श्रावक का पद है। उसके स्वरूप का वर्णन रविषेण ने इस प्रकार किया है—

ततस्तत्पुण्ययोगेन सिद्धार्थो नाम विश्रुतः।
शुद्धात्मा **क्षुल्लकः** प्राप वज्रजङ्घस्य मन्दिरम्॥ १००/३२॥

सन्ध्यात्रयमबन्ध्यं यो महाविद्यापराक्रमः।
मन्दरोरसि वन्दित्वा जिनानेति पदं क्षणात्॥ १००/३३॥

प्रशान्तवदनो धीरो **लुञ्चरञ्जितमस्तकः**।
साधुभावनचेतस्को **वस्त्रमात्रपरिग्रहः**॥ १००/३४॥

उत्तमाणुव्रतो नाना-गुण-शोभन-भूषितः।
जिनशासन-तत्त्वज्ञः-कला-जलधि- पारगः॥ १००/३५॥

अंशुकेनोपवीतेन सितेन प्रचलात्मना।
मृणालकाण्डजालेन नागेन्द्र इव मन्थरः॥ १००/३६॥

करञ्जजालिकां कक्षे कृत्वा प्रियसखीमिव।
मनोज्ञममृतास्वादं **धर्मवृद्धिरिति ब्रुवन्**॥ १००/३७॥

गृहे गृहे शनैर्भिक्षां पर्यटन् विधि सङ्गतः-
गृहोत्तमं समासीदद्यत्र तिष्ठति जानकी॥ १००/३८॥

जिनशासनदेवीव सा मनोहर-भावना।
दृष्ट्वा क्षुल्लकमुत्तीर्य सम्भ्रान्ता नवमालिकाम्॥ १००/३९॥

उपगत्यसमाधाय कर-वारिरुह-द्वयम्।
इच्छाकारादिना सम्यक् सम्पूज्य विधिकोविदा॥ १००/४०॥

विशिष्टेनान्न-पानेन समतर्पयदादरात्।
जिनेन्द्रशासनासक्तान् सा हि पश्यति बान्धवान्॥ १००/४१॥

पद्मपुराण / भाग ३।

अनुवाद—"तदनन्तर राजा वज्रजंघ के पुण्ययोग से सिद्धार्थ नामक प्रसिद्ध, शुद्धहृदय क्षुल्लक उसके घर आया। महाविद्याओं के द्वारा उसमें इतना पराक्रम आ गया था कि वह तीनों सन्ध्याओं में प्रतिदिन मेरुपर्वत पर विद्यमान जिनप्रतिमाओं की वन्दना कर क्षण भर में अपने स्थान पर आ जाता था। वह प्रशान्त मुख था, धीरवीर था, केशलुंच करने से उसका मस्तक सुशोभित था, उसका चित्त शुद्ध भावनाओं से युक्त था। वह वस्त्रमात्र परिग्रह का धारक था, उत्तम अणुव्रती था, नानागुणरूपी अलंकारों से अलंकृत था, जिनशासन के रहस्य का ज्ञाता था, कलारूपी समुद्र का पारगामी था, धारण किये हुए सफेद चंचल वस्त्र से ऐसा जाना पड़ता था मानो मृणालों के समूह से वेष्टित मन्द-मन्द चलनेवाला गजराज ही हो। वह प्रियसखी के समान पिच्छी को कक्ष में दबाकर अमृत के समान सुस्वादु **धर्मवृद्धि** शब्द का उच्चारण कर रहा था, और घर-घर में भिक्षा लेता हुआ धीरे-धीरे चल रहा था। इस तरह भ्रमण करता हुआ संयोगवश उस उत्तम घर में पहुँचा, जहाँ सीता बैठी थीं। जिनशासनदेवी के समान मनोहर भावना को धारण करनेवाली सीता ने ज्यों ही क्षुल्लक को देखा, त्यों ही वे संभ्रम के साथ नौखण्डा महल से उतर कर नीचे आ गईं तथा पास जाकर और दोनों हाथ जोड़कर उन्होंने इच्छाकार आदि के द्वारा उसकी अच्छी तरह पूजा की। तदनन्तर विधि को जाननेवाली सीता ने उसे आदरपूर्वक विशिष्ट अन्न-पान देकर सन्तुष्ट किया, क्योंकि वे जिनशासन-प्रेमियों को अपना बन्धु समझती थीं।"

यहाँ द्रष्टव्य है कि वस्त्रमात्रपरिग्रहधारी साधुवत् दिखाई देनेवाले मोक्षसाधक को **क्षुल्लक** संज्ञा दी गई है और बतलाया गया है कि वह मात्र वस्त्र और पिच्छी ग्रहण करते हुए भी अणुव्रतधारी अर्थात् गृहस्थ ही होता है। मुनि से किंचित् वेशगत साम्य

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

(अधिकांशतः निर्वस्त्र शरीर, कटि-आच्छादक वस्त्र के अतिरिक्त शेष बाह्य परिग्रह का अभाव, लुंचितमस्तक तथा पिच्छीकमण्डलु-ग्रहणरूप अल्प वेशसाम्य) होने के कारण उसे रविषेण ने **गृहस्थमुनि** शब्द से भी अभिहित किया है—**गृहस्थमुनिवेषभृत्** = गृहस्थमुनि अर्थात् क्षुल्लक का वेष धारण करनेवाला (पद्मपुराण/भाग ३/१०२/३/अनुवाद : पं० पन्नालाल जी साहित्याचार्य)। नारद नामक क्षुल्लक को, जिसका दूसरा नाम अवद्वार है, रविषेण ने यह संज्ञा दी है।[५] क्षुल्लक के साथ **गृहस्थ** विशेषण लगा कर और उसे **अणुव्रतधारी** (**उत्तमाणुव्रतः**—प.पु./भा.३/१००/३५) कहकर स्पष्ट कर दिया गया है कि वह साक्षात् मुक्ति का पात्र नहीं है। **मुनि** शब्द के प्रयोग से उसे अपवाद-लिंगधारी सवस्त्र यापनीयमुनि न समझ लिया जाय, क्योंकि रविषेण ने उपर्युक्त पद्यों में उसे **धर्मवृद्धि** का आशीर्वाद देनेवाला (**धर्मवृद्धिरिति ब्रुवन्**—प.पु./भा.३/१००/३७) कहा है, जो दिगम्बर-परम्परा का लक्षण है। यापनीय-परम्परा में **धर्मलाभ** का आशीर्वाद दिया जाता था।[६] वस्त्रमात्र परिग्रहधारी मुमुक्षु को रविषेण द्वारा क्षुल्लक संज्ञा दिये जाने से स्पष्ट है कि वे उसे अपवादलिंगधारी मुनि नहीं मानते। यह उनके यापनीय न होने का प्रबल प्रमाण है।

३
गृहस्थमुक्तिनिषेध

आचार्य रविषेण ने गृहस्थ को साक्षात् मुक्ति के योग्य नहीं माना, यह भी उनके

---

५. जटाकूर्चधरः शुक्लवस्त्रप्रावृतविग्रहः।
अवद्वारगुणाभिख्यो नारदः क्षितिविश्रुतः॥ ८१/११॥ पद्मपुराण/भाग ३।
पद्मनाभस्ततोऽवोचत् सोऽवद्वारगतिर्भवान्।
क्षुल्लकोऽभ्यागतः कस्मादुक्तश्च स जगौ क्रमात्॥ ८१/६३॥ पद्मपुराण/भाग ३।
दर्शनेऽवस्थितौ वीरौ प्राप ताभ्यां च पूजितः।
आसनादिप्रदानेन **गृहस्थ-मुनि-वेष-भृत्**॥ १०२/३॥ पद्मपुराण/भाग ३।
ततः सुखं समासीनः परमं तोषमुद्वहन्।
अब्रवीत्तावद्वारः कृतस्निग्धनिरीक्षणः॥ १०२/४॥ पद्मपुराण/भाग ३।

६. क—"आद्यास्त्रयोऽपि सङ्घा वन्द्यमाना धर्मवृद्धिं भणन्ति। --- गोप्यास्तु वन्द्यमाना धर्मलाभं भणन्ति।" तर्करहस्यदीपिकावृत्ति / षड्दर्शनसमुच्चय / अधिकार ४/ पृ.१६१।
ख— डॉ० सागरमल जी भी लिखते हैं-"इसी प्रकार पउमचरियं (विमलसूरिकृत) में मुनि को आशीर्वाद के रूप में धर्मलाभ कहते हुए दिखाया गया है, जब कि दिगम्बर-परम्परा में मुनि आशीर्वचन के रूप में धर्मवृद्धि कहते हैं, किन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि धर्मलाभ कहने की परम्परा न केवल श्वेताम्बर है, अपितु यापनीय भी है।" जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय/ पृ. २१७-२१८।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

यापनीय न होने का सबूत है। गृहस्थ की मुक्तियोग्यता का निषेध उन्होंने पद्मपुराण (भाग २) के निम्नलिखित वाक्यों में किया है—

कामक्रोधादिपूर्णस्य का मुक्तिर्गृहसेविनः॥ ३१ / १३५॥

अनुवाद—"कामक्रोधादि से पूर्ण गृहस्थ की मुक्ति कैसे हो सकती है?"

गृहधर्मेण तस्मिन् हि मुक्त्यभावः सुनिश्चितः॥ ३१ / १३७॥

अनुवाद— "गृहस्थाश्रम से मुक्ति का अभाव सुनिश्चित है।"

गृहस्थधर्म को **पद्मपुराण** (भाग ३) में परम्परया मोक्ष का हेतु बतलाया गया है, साक्षात् नहीं। साक्षात् हेतु मुनिधर्म को ही कहा गया है—

अणुधर्मोऽग्रधर्मश्च श्रेयसः पदवी द्वयी।
पारम्पर्येण तत्राद्या परा साक्षात्प्रकीर्तिता॥ ८५/१८॥

गृहाश्रमविधिः पूर्वः महाविस्तारसङ्गतः।
परो निर्ग्रन्थशूराणां कीर्तितोऽत्यन्तदुःसहः॥ ८५ / १९॥

अनुवाद—"मोक्ष के दो मार्ग हैं : अणुधर्म और पूर्णधर्म। पहला परम्परया मोक्ष का कारण है, दूसरा साक्षात्। पहला अणुधर्म बहुत विस्तृत है, वह गृहस्थाश्रम में होता है। दूसरा महाधर्म अत्यन्त कठिन है, वह महाशूर निर्ग्रन्थ साधुओं के ही होता है।"

आपवादिक सवस्त्रमुक्ति की तरह गृहस्थमुक्ति की मान्यता भी यापनीयमत का आधारभूत सिद्धान्त है। इसका पद्मपुराण में स्पष्ट शब्दों में निषेध किया गया है। इससे सिद्ध है कि वह यापनीयग्रन्थ नहीं है, अपितु दिगम्बरग्रन्थ है।

४

परतीर्थिकमुक्तिनिषेध

जैनेतरलिंग अर्थात् परशासन से मुक्ति मानना भी यापनीयों का मौलिक सिद्धान्त है। रविषेण ने इसका निषेध इन खुले शब्दों में किया है—

जिनेन्द्रशासनादन्यशासने रघुनन्दन।
न सर्वयत्नयोगेऽपि विद्यते कर्मणां क्षयः॥ १०५ / २०४॥
पद्मपुराण / भाग ३।

अनुवाद—"हे रघुनन्दन! जिनेन्द्रशासन को छोड़कर अन्य शासन से मोक्ष की प्राप्ति समस्त यत्न करने पर भी नहीं होती।"

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

केवल यह एकवाक्य रविषेण को यापनीय सिद्ध करने की चेष्टा को कुचेष्टा सिद्ध कर देता है।

५

स्त्रीमुक्तिनिषेध

पूर्व (शीर्षक १ एवं ३) में आचार्य रविषेण के ये शब्द उद्धृत किये गये हैं कि "चारित्र दो प्रकार का है : सागार और निरगार। सागारचारित्र गृहस्थों का है और निरगार दिगम्बरों का।" (प.पु./भा.२/३३/१२१)। उनका दूसरा यह कथन भी उद्धृत किया गया है कि "मोक्ष के दो मार्ग हैं : अणुधर्म और पूर्णधर्म। अणुधर्म के स्वामी गृहस्थ होते हैं और पूर्णधर्म के निर्ग्रन्थशूर।" (प.पु./भा.३/८५/१८-१९)। रविषेण ने इन दो वचनों के द्वारा स्पष्ट कर दिया है कि यतः स्त्रियाँ दिगम्बर या निर्ग्रन्थ नहीं हो सकतीं, अतः उनके निरगारचारित्र या पूर्णधर्म संभव नहीं हैं, इसलिए वे मुक्ति के योग्य नहीं हैं।

रविषेण ने **पद्मपुराण** (भाग ३) में वर्णन किया है कि आर्यिका सीता सदा सोचती रहती थीं कि स्त्रीपर्याय अत्यन्त निन्दनीय है—"**अत्यन्तनिन्दितं स्त्रीत्वं चिन्तयन्ती सती सदा**" (१०९/८)। वे इसे इतना दुःखद और आत्महित में बाधक समझती हैं कि राम से कहती हैं-"हे बलदेव! मैंने आपके प्रसाद से देवोपम भोग भोगे हैं, अब उनकी इच्छा नहीं है। अब तो मैं वह काम करूँगी, जिससे फिर स्त्री न होना पड़े—"**अधुना तदहं कुर्वे जाये स्त्री न यतः पुनः**" (१०५/७३)। अर्थात् वे पुरुष-पर्याय प्राप्त करना चाहती हैं और इसके लिए वे आर्यिकादीक्षा ग्रहण करती हैं—"**संवृत्ता श्रमणा साध्वी वस्त्रमात्रपरिग्रहा**" (१०५/७९)। अर्थात् आचार्य रविषेण आर्यिका-दीक्षा को पुरुषपर्याय-प्राप्ति का साधन मानते हैं, मोक्ष का नहीं। वे वर्णन करते हैं कि सीता बासठ वर्ष तक उत्कृष्ट तप कर तथा तैंतीस दिन की उत्तम सल्लेखना धारण कर उपभुक्त बिस्तर के समान शरीर को छोड़कर आरण-अच्युत-युगल में प्रतीन्द्रपद को प्राप्त हुईं। (१०९/१७-१८)। वे गौतम स्वामी के मुख से कहलवाते हैं कि अहो! जिनशासन में धर्म का माहात्म्य देखो कि यह जीव स्त्रीपर्याय को छोड़कर देवों का स्वामी पुरुष हो गया—

माहात्म्यं पश्यतेदृक्षं धर्मस्य जिनशासने।
जन्तुः स्त्रीत्वं यदुज्झित्वा पुमान् जातः सुरप्रभुः॥ १०९/१९॥

सीता के आरणाच्युत स्वर्ग में प्रतीन्द्र बन जाने के बाद श्रीराम दिगम्बरदीक्षा ग्रहणकर तप करते हैं और उसी भव में उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो जाता है। तब अच्युतेन्द्र पद को प्राप्त सीता का जीव सीतेन्द्र केवली भगवान् श्रीराम (पद्मनाभ) के पास जाकर

अपनी भावी पर्याय के बारे में पूछता है। केवली श्रीराम सीतेन्द्र को बतलाते हैं कि "तुम आरणाच्युत कल्प से च्युत होकर इस भरतक्षेत्र के रत्नस्थलपुर नामक नगर में चक्ररथ नामक चक्रवर्ती होगे। रावण और लक्ष्मण के जीव तुम्हारे इन्द्ररथ और मेघरथ नाम के पुत्र होंगे। इन्द्ररथ (रावण का जीव) अनेक उत्तम भव प्राप्त करने के बाद मनुष्य होकर तीर्थंकरनामकर्म का बन्ध करेगा और अनुक्रम से उसे अर्हन्तपद की प्राप्ति होगी। तथा तुम चक्ररथ, चक्रवर्ती की पर्याय में तप कर वैजयन्त स्वर्ग में अहमिन्द्र पद प्राप्त करोगे। वहाँ से च्युत होकर उक्त तीर्थंकर के प्रथम गणधर बनोगे। तदनन्तर तुम्हें निर्वाण की प्राप्ति होगी।" (पद्मपुराण / भा. ३ १२३ / १२१-१३०)।

इससे साफ हो जाता है कि आचार्य रविषेण की दृष्टि में आर्यिकापद पुरुषपर्याय की प्राप्ति का साधन है, मोक्ष का नहीं। आर्यिकाधर्म का पालन करने से स्त्रीत्व से छुटकारा पाकर स्वर्ग में देवपद की प्राप्ति होती है और वहाँ से च्युत होने पर मनुष्यपर्याय में पुरुषशरीर उपलब्ध होता है। उसके आश्रय से अशेषपरिग्रहत्याग-रूप जिनलिंग धारण कर स्त्री का जीव परम्परया मुक्त होता है। रविषेण ने स्त्रीमुक्ति का यही मार्ग प्रतिपादित किया है।

पद्मपुराण में किसी भी स्त्री की तद्भवमुक्ति नहीं बतलाई गई है। प्रत्येक आर्यिका का स्वर्ग में देव होना और उसके बाद मनुष्यभव में पुरुष होना ही बतलाया गया है। सीता का उदाहरण ऊपर दिया जा चुका है। राजा रतिवर्धन की रानी सुदर्शना के भवचक्र का वर्णन करते हुए गौतम स्वामी श्रेणिक से कहते हैं—"हे राजन्! पति और पुत्रों के वियोग से पीड़ित सुदर्शना स्त्रीस्वभाव के कारण निदानशृंखला में बद्ध हो दुःखसंकट में भ्रमण करती रही। उसने नाना योनियों में स्त्रीपर्याय के दुःख भोगे और बड़ी मुश्किल से उसे जीतकर **पुण्य के प्रभाव से मनुष्यभव में पुरुष हुई** और विविध विद्याओं में निपुण होकर धर्मानुराग के कारण सिद्धार्थ नामक क्षुल्लक बनी।"[७] (प.पु./भा.३/१०८/४७-४९)।

दशरथ की रानी कैकेयी भी स्त्रीपर्याय को धिक्कारती हुई पृथिवीमती नामक आर्या से आर्यिकादीक्षा ग्रहण कर आनत स्वर्ग में देव होती है। (प.पु./भा.३/८६/

---

७. राजन् सुदर्शना देवी तनयात्यन्तवत्सला।
भर्तृपुत्रवियोगार्त्ता स्त्रीस्वभावानुभावतः॥ १०८ / ४७॥
निदानशृङ्खलाबद्धा भ्राम्यन्ती दुःखसङ्कटम्।
कृच्छ्रं स्त्रीत्वं विनिर्जित्य भुक्त्वा विविधयोनिषु॥ १०८ / ४८॥
अयं क्रमेण सम्पन्नो मनुष्यः पुण्यचोदितः।
सिद्धार्थो धर्मसक्तात्मा विद्याविधिविशारदः॥ १०८ / ४९॥ पद्मपुराण / भा.३।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

२१-२५)। दशरथ की अन्य रानियाँ भी उसी स्वर्ग में देव-पर्याय प्राप्त करती हैं। (प.पु./भा.३/१२३/८०-८१)। श्रीभूति नामक पुरोहित की वेदवती नामक कन्या आर्यिकादीक्षा लेकर तप करती है और ब्रह्मस्वर्ग में देव बनती है। (प.पु./भा.३/१०६/१४१, १५२-१५४)। इस प्रकार पद्मपुराण में किसी भी आर्यिका की तद्भवमुक्ति का कथन नहीं है। इन तथ्यों से सिद्ध है कि आचार्य रविषेण को स्त्रीमुक्ति मान्य नहीं है। यह उन के यापनीय न होने का साक्षात् प्रमाण है।

६

सोलहकल्पादि की स्वीकृति

१. **पद्मपुराण** (भा.३) में सोलह कल्पों का उल्लेख है (१०५/१६७-१६९), जब कि श्वेताम्बर और यापनीय मतों में बारह ही माने गये हैं।

२. चार अनुयोगों के नाम दिगम्बर-परम्परानुसार दिये गये हैं—

करणं चरणं द्रव्यं प्रथमं च सभदेकम्।
अनुयोगमुखं योगी जगाद वदतां वरः॥ १०६/९१॥

पद्मपुराण/भाग ३।

३. काल द्रव्य का अस्तित्व स्वीकार किया गया है, जो श्वेताम्बर और यापनीय मतों के विरुद्ध है। (प.पु./भा.३/१०५/१४२)।

४. आहारदान की विधि दिगम्बरमतानुसार वर्णित की गई है। (प.पु./भा.३/१२०/१५-१८, १२१/११-१७)। दाता के यहाँ देवों के द्वारा पंचाश्चर्य किये जाने का कथन है (प.पु./भा.३/१२१/१९-२५), जो दिगम्बर-परम्परा का अनुसरण है।

७

कथावतार की दिगम्बरपद्धति

पद्मपुराण में राजा श्रेणिक के प्रश्न करने पर गौतम गणधर द्वारा कथा कही गई है। यह ग्रन्थ के दिगम्बर-परम्परा का होने का सूचक है। इस पर प्रकाश डालते हुए स्व० पं० परमानन्द जी शास्त्री लिखते हैं—

"दिगम्बर-सम्प्रदाय के प्रायः सभी ग्रन्थ, जिनमें कथा के अवतार का प्रसंग दिया हुआ है, विपुलाचल पर्वत पर वीर भगवान् का समवसरण आने और उसमें इन्द्रभूति-गौतम द्वारा राजा श्रेणिक को उसके प्रश्न पर कथा कहे जाने का उल्लेख करते हैं, जबकि श्वेताम्बरीय कथाग्रन्थों की पद्धति इससे भिन्न है। वे सुधर्मा स्वामी द्वारा जम्बू स्वामी के प्रति कथा के अवतार का प्रसंग बतलाते हैं, जैसा कि **संघदास**

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

गणी की **वसुदेवहिंडी** के निम्नवाक्य से प्रकट है—"**तत्थ ताव सुहम्मसामिणा जंबूनामस्स पढमाणुओगे तित्थयरचक्कवट्टि-दसारवंसपरूवणगयं वसुदेवचरियं कहियं ति तस्सेव---त्ति।**"[८]

"इस बात को श्वेताम्बर ऐतिहासिक विद्वान् श्री मोहनलाल दुलीचन्द जी देसाई एडवोकेट बम्बई ने भी '**कुमारपालना समयनुं एक अपभ्रंश काव्य**' नामक अपने लेख में स्वीकार किया है और इसे भी प्रद्युम्नचरित नामक उक्त काव्यग्रन्थ के कर्त्ता को दिगम्बर बतलाने में एक हेतु दिया है। (देखिये, 'जैनाचार्य श्री आत्मानन्द जन्मशताब्दी स्मारक ग्रन्थ'/गुजराती लेख/पृ. २६०)।"[९]

यह बात डॉ० सागरमल जी ने भी इन शब्दों में स्वीकार की है—"किन्तु वसुदेव-हिण्डी में '**जम्बू ने प्रभव को कहा**' ऐसा भी उल्लेख है, जबकि दिगम्बर-परम्परा के कथाग्रन्थों में सामान्यतया '**श्रेणिक के पूछने पर गौतम गणधर ने कहा**' ऐसी पद्धति उपलब्ध होती है।" (जै.ध.या.स./२०८-२०९)।

पद्मपुराण में इन यापनीयमत-विरुद्ध सिद्धान्तों का प्रतिपादन होने से सिद्ध है कि यह यापनीय-परम्परा का ग्रन्थ नहीं है, अपितु दिगम्बर-परम्परा का है।

---

८. 'पउमचरिय का अन्तःपरीक्षण'/अनेकान्त/वर्ष ५/किरण १०-११/नवम्बर-दिसम्बर, १९४३/पृ. ३४१।

९. वही/पादटिप्पणी।

✧✧✧

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

द्वितीय प्रकरण

यापनीयपक्षधर हेतुओं की असत्यता एवं हेत्वाभासता

यतः पद्मपुराण में प्रतिपादित यापनीयमत-विरुद्ध सिद्धान्तों से उसका यापनीयग्रन्थ होना असिद्ध हो जाता है, अतः यापनीयमत-समर्थक सभी हेतु असत्य या हेत्वाभास हैं, यह बात सिद्ध हो जाती है। उनमें से कौन-सा हेतु असत्य है और कौन-सा हेत्वाभास, इसका स्पष्टीकरण आगे किया जा रहा है।

१

यापनीयपक्ष

रविषेण के अनुसार उनकी गुरुपरम्परा इस प्रकार है–इन्द्र, दिवाकरयति, अर्हन्मुनि, लक्ष्मणसेन व रविषेण। (पद्मपुराण/भा.३/१२३/१६८)। शाकटायनसूत्र (श्लोक १०) में भी इन्द्र का उल्लेख है। शाकटायनसूत्र यापनीयग्रन्थ माना जा चुका है। गोम्मटसार (जीवकाण्ड/गाथा १६) में इन्द्र को संशयी बताया गया है। टीकाकार ने इन्द्र को श्वेताम्बर गुरु बताया है। इस विषय में पं० नाथूराम जी प्रेमी का कथन है—"इन्द्र नाम के श्वेताम्बराचार्य का अभी तक कोई उल्लेख नहीं मिला। बहुत संभव है कि वे यापनीय ही हों और श्वेताम्बरतुल्य होने से श्वेताम्बर कह दिये गये हों। द्विकोटिगत ज्ञान को संशय कहते हैं, जो श्वेताम्बर-सम्प्रदाय में घटित नहीं हो सकता। परन्तु यापनीयों को कुछ श्वेताम्बर तथा कुछ दिगम्बर होने के कारण शायद संशयमिथ्यादृष्टि कह दिया गया हो। बहुत संभव है कि शाकटायनसूत्रकार ने इन्हीं इन्द्रगुरु का उल्लेख किया हो।" (जै.सा.इ./द्वि.सं./पृ. १६७)। "इन्द्र और दिवाकरयति यदि यापनीय हों, तो रविषेण भी यापनीय ही होने चाहिए। यदि यह दिवाकरयति सन्मतिकार हैं, तो उनका यापनीय होना निश्चित है।" (या.औ.उ.सा./पृ. १४६)।

दिगम्बरपक्ष

पं० नाथूराम जी प्रेमी ने यापनीय-आचार्य पाल्यकीर्ति शाकटायन के शाकटायनसूत्र-पाठ में उल्लिखित इन्द्र के यापनीय होने की संभावना व्यक्त की है। श्रीमती पटोरिया ने इन इन्द्र को बिना किसी प्रमाण के रविषेण के गुरुओं के गुरु इन्द्र से अभिन्न मानकर रविषेण को यापनीय घोषित कर दिया है। यह उनकी कपोलकल्पना है, प्रमाणसिद्ध तथ्य नहीं।

पद्मपुराण में पूर्वोक्त यापनीयमत-विरोधी सिद्धान्तों के प्रतिपादन से सिद्ध है कि वह यापनीयग्रन्थ नहीं है। अतः उसके कर्त्ता रविषेण भी यापनीय नहीं हैं, इसलिए

उनके इन्द्र, दिवाकरयति आदि गुरुओं का भी यापनीय होना असंभव है। फलस्वरूप रविषेण को यापनीय सिद्ध करने के लिए 'उनके गुरु को यापनीय मानने का' हेतु असत्य है, अतः 'उनके शिष्य रविषेण यापनीय हैं' यह निर्णय भी असत्य है। यतः पद्मपुराण में दिगम्बरीय सिद्धान्तों का निरूपण है, अतः उसके कर्त्ता रविषेण दिगम्बराचार्य हैं, अत एव उनके गुरु इन्द्र, दिवाकरयति आदि भी दिगम्बर ही थे। शाकटायनसूत्र में इन्द्र का उल्लेख होना उनके यापनीय होने का प्रमाण नहीं है। दिगम्बर इन्द्र का भी शाकटायन द्वारा उल्लेख किया जाना संभव है। अथवा वे कोई अन्य इन्द्र हो सकते हैं। गोम्मटसार में जिस इन्द्र को संशयमिथ्यादृष्टि कहा गया है, वह दिगम्बराचार्य रविषेण का गुरु नहीं हो सकता, अतः वह उनसे भिन्न है, यह युक्ति से सिद्ध होता है।

२

यापनीयपक्ष

"आचार्य रविषेण ने अपनी कथा के स्रोत के विषय में लिखा है–वर्द्धमान जिनेन्द्र द्वारा कथित यह कथा इन्द्रभूति गौतम को प्राप्त हुई, फिर क्रम से धारिणीपुत्र सुधर्मा को और फिर क्रम से प्रभवस्वामी को प्राप्त हुई। इसके पश्चात् अनुत्तरवाग्मी कीर्ति द्वारा लिखित कथा प्राप्त करके रविषेण ने यह प्रयत्न किया।[१०] ध्यातव्य है कि जम्बूस्वामी के पश्चात् जैनसम्प्रदाय की दो धारायें प्राप्त होती हैं। दिगम्बर-परम्परा आचार्य विष्णु को तथा श्वेताम्बर-परम्परा आचार्य प्रभवस्वामी को जम्बूस्वामी का उत्तराधिकारी मानती है। रविषेण के द्वारा सुधर्मा के पश्चात् प्रभवस्वामी का उल्लेख, ये दिगम्बर-परम्परा के नहीं थे, यह मानने के लिए पर्याप्त प्रमाण है।" (या.औ.उ.सा./ पृ.१४६-१४७)।

दिगम्बरपक्ष

यहाँ पद्मपुराण को यापनीयग्रन्थ सिद्ध करने के लिए उसमें जो प्रभवस्वामी को आचार्यपरम्परा से रामकथा की प्राप्ति का उल्लेख है, उसे हेतु बतलाया गया है। किन्तु पद्मपुराण में सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति, गृहस्थमुक्ति आदि का निषेध है, अत एव वह दिगम्बरग्रन्थ है। और दिगम्बरग्रन्थ में उपर्युक्त उल्लेख है, इसलिए वह यापनीयग्रन्थ का असाधारण धर्म नहीं है। फलस्वरूप उसमें पद्मपुराण को यापनीयग्रन्थ सिद्ध करने का हेतुत्व नहीं है, अतः वह हेत्वाभास है।

प्रभवस्वामी के उल्लेख का कारण यह है कि रविषेण ने पद्मपुराण की रचना श्वेताम्बर विमलसूरि के पउमचरिय के आधार पर की है। उन्होंने 'पउमचरिय' का

१०.पद्मपुराण/भाग १/१/४१-४२ एवं भाग ३/१२३/१६६।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

दिगम्बरीकरण किया है, किन्तु वे आरंभ में प्रभवस्वामी के स्थान में जम्बूस्वामी का नाम रखना भूल गये। यह भूल उन्होंने ग्रन्थ (पद्मपुराण/भाग ३) के अन्त में सुधार ली। वहाँ उन्होंने प्रभवस्वामी के स्थान में जम्बूस्वामी का ही उल्लेख किया है। यथा—

निर्दिष्टं सकलैर्नतेन भुवनैः श्रीवर्द्धमानेन यत्
तत्त्वं वासवभूतिना निगदितं **जम्बोः प्रशिष्यस्य** च।
शिष्येणोत्तरवाग्मिना प्रकटितं पद्मस्य वृत्तं मुनेः
श्रेयः साधुसमाधिवृद्धिकरणं सर्वोत्तमं मङ्गलम्॥ १२३/१६७॥

इस प्रकार प्रभवस्वामी का उल्लेख भूल से हुआ है, अतः वह पद्मपुराण के यापनीय-ग्रन्थ होने का हेतु नहीं है, अपितु हेत्वाभास है।

३

यापनीयपक्ष

"रविषेण द्वारा दिगम्बर-परम्परा में प्रचलित गुणभद्रवाली कथा को न अपनाकर विमलसूरि की कथा को अपनाना भी उन्हें दिगम्बर-भिन्न परम्परा का द्योतित करता है। यद्यपि आचार्य गुणभद्र का समय आचार्य रविषेण से परवर्ती है, परन्तु गुणभद्र की कथा की एक पूर्वपरम्परा थी, यह बात चामुण्डराय-लिखित चामुण्डराय-पुराण (त्रिषष्टिलक्षणमहापुराण) से मालूम होती है।" (या. औ. उ. सा./पृ. १४७-१४८)।

दिगम्बरपक्ष

रविषेण ने पद्मपुराण में यापनीयमत-विरोधी सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है, यह इस बात का अखण्ड्य प्रमाण है कि वे यापनीय-परम्परा के नहीं, बल्कि दिगम्बर-परम्परा के हैं। उन्होंने श्वेताम्बर विमलसूरि-प्रणीत कथा का दिगम्बरीकरण किया है, यह उनके दिगम्बर होने का स्पष्ट प्रमाण है। अतः विमलसूरिकृत कथा का अनुकरण रविषेण के यापनीय होने का हेतु नहीं है, अत एव वह हेत्वाभास है।

४

यापनीयपक्ष

"रविषेण की कथा को यापनीय स्वयम्भू द्वारा अपनाया जाना भी रविषेण को यापनीय मानने का एक महत्त्वपूर्ण कारण है। स्वयम्भू ने रामकथा की परम्परा को वर्धमान, इन्द्रभूति, सुधर्मा, प्रभव, अनुत्तरवाग्मी कीर्ति तथा रविषेण से क्रमशः प्राप्त बताया है। रविषेण के प्रति आभार प्रदर्शित करते हुए कहा है—'आचार्य रविषेण के प्रसाद से प्राप्त कथासरिता में कविराज ने अपनी बुद्धि से अवगाहन किया है।' पद्मचरित में प्रभवस्वामी का उल्लेख तथा स्वयंभू द्वारा आदरपूर्वक रविषेण के प्रति कृतज्ञता-

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

ज्ञापन, दोनों तथ्य रविषेण को यापनीय मानने को प्रेरित करते हैं।'' (या. औ. उ. सा. / पृ.१४८)।

दिगम्बरपक्ष

स्वयम्भू भी यापनीय नहीं, दिगम्बर ही थे, इसके प्रमाण द्वाविंश अध्याय में द्रष्टव्य हैं। अतः उपर्युक्त हेतु असत्य है। यतः स्वयम्भू दिगम्बर थे, अतः मान्य विदुषी (श्रीमती पटोरिया) के उपर्युक्त तर्क से रविषेण दिगम्बर ही सिद्ध होते हैं।

मान्य विदुषी का यह कथन भी युक्तिसंगत नहीं है कि स्वयंभू का रविषेण के प्रति आदरपूर्वक कृतज्ञता-ज्ञापन रविषेण को यापनीय मानने के लिए प्रेरित करता है। यदि आदर या सराहना की अभिव्यक्ति के आधार पर किसी लेखक के सम्प्रदाय का निर्धारण किया जाय, तो रविषेण को श्वेताम्बर भी मानना होगा और दिगम्बर भी, क्योंकि श्वेताम्बर उद्योतन सूरि ने भी अपनी कुवलयमाला (विक्रम सं० ८३५) में रविषेण के 'पद्मचरित' तथा जटिलमुनि के 'वरांगचरित' की सराहना की है तथा पुन्नाट-संघी दिगम्बर जिनसेन ने भी हरिवंशपुराण में ऐसा ही किया है।[११] यतः रविषेण को श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों मानना संभव नहीं है, अतः सिद्ध है कि मान्य विदुषी का उक्त हेतु साधारणानैकान्तिक हेत्वाभास है।

सम्प्रदाय-निर्धारण के असाधारणधर्मभूत हेतु तो ग्रन्थ में प्रतिपादित साम्प्रदायिक सिद्धान्त हैं। रविषेण ने पद्मपुराण में सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति आदि मान्यताओं का निषेध करनेवाले सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। यह उन्हें असन्दिग्धरूप से दिगम्बर सिद्ध करता है। इसी हेतु को डॉ० सागरमल जी ने भी विमलसूरिकृत 'पउमचरिय' के श्वेताम्बरग्रन्थ होने का निर्विवाद प्रमाण माना है। कुछ दिगम्बर विद्वानों ने विमलसूरि के 'पउमचरिय' को इस आधार पर दिगम्बरग्रन्थ कहा है कि उसमें श्रेणिक के प्रश्न करने पर गौतम स्वामी ने कथा सुनायी है, जो दिगम्बरपद्धति है। इस पर टिप्पणी करते हुए डॉक्टर सा० लिखते हैं-''मेरी दृष्टि में इस तथ्य को पउमचरियं के दिगम्बर-परम्परा से सम्बद्ध होने का आधार नहीं माना जा सकता, क्योंकि पउमचरियं में स्त्रीमुक्ति आदि ऐसे अनेक ठोस तथ्य हैं, जो श्वेताम्बर-परम्परा के पक्ष में ही जाते हैं।'' (जै. ध.या.स./पृ.२०९)। मैं इससे पूर्णतः सहमत हूँ। पद्मपुराण में भी स्त्रीमुक्तिनिषेध आदि ऐसे ठोस तथ्य हैं, जो यापनीय-परम्परा के विरोध में तथा दिगम्बर-परम्परा के पक्ष में जाते हैं।

---

११. नाथूराम प्रेमी : जैन साहित्य और इतिहास/द्वि.सं./पृ.८८।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

५

यापनीयपक्ष

"रविषेण के (पद्मपुराण में) कई उल्लेख दिगम्बर-परम्परा के विपरीत हैं। गन्धर्व-देवों को मद्यपी (१७ / २६८) तथा यक्ष-राक्षसादिकों को कवलाहारी मानना (९४/२७१) दिगम्बर-परम्परा के विपरीत है। दिगम्बर-परम्परा के अनुसार १३ वें से १६ वें स्वर्ग के देव चित्रा पृथिवी के उपरिम तल से नीचे नहीं जाते।[१२] परन्तु पद्मचरित (पर्व १२३) में सोलहवें स्वर्ग के प्रतीन्द्र के रूप में जन्मे सीता के जीव का रावण को सम्बोधित करने के लिए नरकगमन बताया गया है।" (या.औ.उ.सा./पृ. १४८)।

"पद्मचरित (पद्मपुराण) में यह उल्लेख है कि भरत चक्रवर्ती मुनियों के निमित्त से बने आहार को लेकर समवशरण में पहुँचे और मुनियों से आहार के लिए प्रार्थना करने लगे। तब भगवान् ऋषभदेव ने बताया कि मुनि उद्दिष्ट भोजन नहीं करते और न आहार की ऐसी रीति है।" (४/९१)। यह उल्लेख भी दिगम्बरपरम्परा के विपरीत है। इसके अतिरिक्त अन्य अनेक बाते हैं, जो गुणभद्र की कथा के विरुद्ध हैं। यथा-

१. "सगर चक्रवर्ती के पूर्वभव तथा उनके पुत्रों का नागकुमार देव के कोप से भस्म होना।

२. हरिषेण चक्रवर्ती की मोक्षगति (पर्व ८)।

३. मघवा चक्रवर्ती को सौधर्म स्वर्ग की प्राप्ति तथा चक्री सनत्कुमार को तीसरे स्वर्ग की प्राप्ति।

४. भगवान् महावीर द्वारा सौधर्मेन्द्र की शंका के निवारणार्थ पादांगुष्ठ से मेरु को कम्पित करना (२/७६)।

५. राम और कृष्ण के बीच ६४ हजार वर्षों का अन्तर।

ये अनेक कारण रविषेण के दिगम्बर आचार्य होने में शंका उपस्थित करते हैं।" (या.औ.उ.सा./पृ. १४९)।

दिगम्बरपक्ष

भगवान् ऋषभदेव ने उद्दिष्ट भोजन के विषय में जो बात कही है, वह तो दिगम्बर-परम्परा को ही बतलाने के लिए कही गई है। इससे तो पद्मपुराण दिगम्बर-परम्परा का ही ग्रन्थ सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त पर्व १२० (श्लोक १५-१८) तथा पर्व १२१ (श्लोक ११-२५) में भी मुनियों के आहारदान की विधि दिगम्बर-परम्परानुसार ही वर्णित की गयी है। अतः पद्मपुराण को यापनीयग्रन्थ सिद्ध करने के लिए उसमें

---

१२. धवला/ष.खं./पु. ४/१,४,५४/पृ.२३९।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

उद्दिष्ट आहारदान और मुनियों की वसतिका आदि में आहार ले जाकर देने की विधि का उल्लेख मानना असत्य मान्यता है। अत एव यह हेतु असत्य है।

शेष जो मान्यताएँ दिगम्बरमत के विरुद्ध हैं, वे यापनीयमत की हैं, यह तो तभी कहा जा सकता है, जब वे किसी यापनीयग्रन्थ में उपलब्ध हों अर्थात् जिस ग्रन्थ में स्त्रीमुक्ति आदि का निषेध करनेवाले सिद्धान्तों का प्रतिपादन न किया गया हो अथवा स्त्रीमुक्ति आदि का प्रतिपादन किया गया हो, उस ग्रन्थ में मिलने पर ही उन्हें यापनीय-मान्यता कहा जा सकता है। अन्यथा उन्हें यापनीय-मान्यता कहना कपोलकल्पित बात होगी। यतः उपर्युक्त मान्याताएँ इस प्रकार के किसी ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं हैं, अतः उन्हें यापनीयों की मान्यता कहना कपोलकल्पना मात्र है। अत एव रविषेण को यापनीय सिद्ध करने के लिए बतलाये गये उपर्युक्त हेतु असत्य हैं।

रविषेणकृत पद्मपुराण में सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति आदि यापनीय मान्यताओं का निषेध करनेवाले सिद्धान्तों का प्रतिपादन है, अतः वह दिगम्बरग्रन्थ है और उसमें उपर्युक्त कथन हैं, अतः यह कहा जा सकता है कि वे दिगम्बरग्रन्थ में होते हुए भी दिगम्बरमत के विरुद्ध हैं। किन्तु ऐसा होना संभव है। इसका कारण है ग्रन्थकर्त्ता का लोकमान्यताओं और इतर सम्प्रदायों की मान्यताओं से प्रभावित होना और स्वरुचि के अनुसार उन्हें अपना लेना। रविषेण ने ऐसा ही किया है। वे श्वेताम्बर विमलसूरि के 'पउमचरिय' से प्रभावित हुये, इसलिए उन्होंने अपने ग्रन्थ के लिए रामकथा का अनुकरण वहीं से कर लिया, इस कारण प्रभवस्वामी का उल्लेख भी उसमें आ गया। भगवान् महावीर के द्वारा पादाङ्गुष्ठ से मेरु को कम्पित करने की मान्यता भी उन्होंने श्वेताम्बर-साहित्य से ग्रहण कर ली। तथा राम और कृष्ण के बीच उन्होंने जो चौंसठ हजार वर्ष का अन्तर बतलाया है, उसका उल्लेख श्वेताम्बरमत में भी नहीं है। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं के अनुसार उनके बीच लाखों वर्षों का अन्तर है।[१३] यह रविषेण के द्वारा स्वतंत्र मत का आरोपण है। इसी प्रकार दिगम्बर-परम्परा-प्रतिकूल अन्य मान्यताएँ भी उनके द्वारा कल्पित की गयी हैं, या किसी अन्य परम्परा से अपनायी गयी हैं।

पुन्नाटवंशी जिनसेन ने भी हरिवंशपुराण में नारद को चरमशरीरी बतलाया है,[१४] जबकि दिगम्बर-परम्परा उन्हें नरकगामी मानती है।[१५] हरिवंशपुराण की दिगम्बरमत-प्रतिकूल अन्य मान्यताओं पर प्रकाश डालते हुए डॉ० पन्नालाल जी साहित्याचार्य लिखते हैं—

"इसी प्रकार ६५ वें सर्ग के अन्त में कथा है कि बलदेव जब ब्रह्मलोक में देव हो चुके, तब वे अवधिज्ञान से कृष्ण के जीव का पता जानकर उसे सम्बोधन

१३. देखिये, जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय/पृ. १८०।
१४. हरिवंशपुराण ४२/१२,१३,२२ तथा ६५/२४।
१५. देखिए, डॉ. पन्नालाल जी जैन साहित्याचार्य की हरिवंशपुराण-प्रस्तावना/पृ. १८।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

के लिए बालुकाप्रभा-पृथिवी में गये। बलदेव का जीव देव, कृष्ण को अपना परिचय देने के बाद उसे वहाँ से अपने साथ ले जाने का प्रयत्न करता है, परन्तु वह सब विफल होता है। अन्त में कृष्ण का जीव बलदेव से कहता है कि "भाई जाओ, अपने स्वर्ग का फल भोगो, आयुका अन्त होने पर मैं भी मनुष्यपर्याय को प्राप्त होऊँगा, वह मनुष्यपर्याय जो कि मोक्ष का कारण होगी। उस समय हम दोनों तप कर जिनशासन की सेवा से कर्मक्षय के द्वारा मोक्ष प्राप्त करेंगे। परन्तु तुम इतना करना कि भारतवर्ष में हम दोनों पुत्र आदि से संयुक्त तथा महाविभव से सहित दिखाये जावें। लोग हमें देखकर आश्चर्य से चकित हो जावें। तथा घर-घर में शंख, चक्र और गदा हाथ में लिये हुए मेरी प्रतिमा बनायी जाये और मेरी कीर्ति की वृद्धि के लिए हमारे मन्दिरों से भरतक्षेत्र को व्याप्त किया जाये।" बलदेव के जीव ने कृष्ण के वचन स्वीकार कर उनसे कहा कि सम्यग्दर्शन में श्रद्धा रखो। तथा भरतक्षेत्र में आकर कृष्ण के कहे अनुसार विक्रिया से उनका प्रभाव दिखाया और तदनुसार उनकी प्रतिमा और मन्दिर बनवाकर भरतक्षेत्र को व्याप्त किया।

"इस प्रकरण में विचारणीय बात यही है कि जिसे तीर्थंकरप्रकृति का बन्ध है, वह सम्यग्दृष्टि तो रहेगा ही। यह ठीक है कि बालुकाप्रभा में उत्पन्न होते समय उनका सम्यक्त्व छूट गया होगा, परन्तु अपर्याप्तक अवस्था के बाद फिर से उन्हें सम्यग्दर्शन हो गया होगा, यह निश्चित है। सम्यग्दृष्टि जीव ने लोक में अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए मिथ्यामूर्ति के निर्माण की प्रेरणा दी और सम्यग्दृष्टि बलराम के जीव देव ने वैसा किया भी। इस प्रकरण की संगति कुछ समझ में नहीं आती।"[१६]

इस प्रकार हरिवंशपुराण में भी दिगम्बर-परम्परा से मेल न खानेवाली कुछ बातें हैं, फिर भी वह यापनीयग्रन्थ नहीं है, दिगम्बरग्रन्थ ही है, क्योंकि उसमें स्त्रीमुक्ति आदि यापनीय-मान्यताओं का निषेध करनेवाले सिद्धान्तों का प्रतिपादन है। इसी प्रकार रविषेणकृत पद्मपुराण (पद्मचरित) में भी कुछ उल्लेख दिगम्बरमत के प्रतिकूल हैं, तथापि उसमें यापनीयमत की मूलभूत मान्यताओं के विरोधी सिद्धान्तों का प्रतिपादन होने से वह यापनीयकृति नहीं है, अपितु दिगम्बरकृति ही है। किसी मनुष्य की नस्ल की पहचान उसकी शारीरिक संरचना से ही होती है, धारण की गई वेशभूषा से नहीं। अतः जैसे कोई भारतीय प्रजाति (नस्ल) का मनुष्य विदेशी वेशभूषा धारण कर लेने से विदेशी नहीं हो जाता, वैसे ही जिस ग्रन्थ की रचना यापनीयमत के आधारभूत सिद्धान्तों के निषेधक दिगम्बरसिद्धान्तों से हुई है, उसमें कुछ दिगम्बर-परम्परा-विरुद्ध बाह्य बातों का समावेश हो जाने से वह यापनीयग्रन्थ नहीं हो सकता। इसलिए रविषेणकृत पद्मपुराण दिगम्बरग्रन्थ ही है, यापनीयग्रन्थ नहीं।

---

१६. वही / पृ.१८।

विंश अध्याय

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

विंश अध्याय

वराङ्गचरित

प्रथम प्रकरण

वराङ्गचरित के दिगम्बरग्रन्थ होने के प्रमाण

'जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय' ग्रन्थ के लेखक डॉ० सागरमल जी जैन ने दिगम्बराचार्य जटासिंहनन्दिकृत वरांगचरित (७ वीं शती ई०) को भी यापनीयपरम्परा का ग्रन्थ सिद्ध करने की चेष्टा की है। किन्तु उन्होंने जैसे अन्य दिगम्बरग्रन्थों को यापनीयग्रन्थ सिद्ध करने के लिए असत्य हेतुओं एवं हेत्वाभासों का प्रयोग किया है, वैसे ही यहाँ भी किया है। इसका निर्णय वरांगचरित में प्रतिपादित यापनीयमत-विरुद्ध सिद्धान्तों का साक्षात्कार करने से हो जाता है। अतः सर्वप्रथम उनका ही प्ररूपण किया जा रहा है। यापनीयपक्षधर हेतुओं का वर्णन तथा उनकी असत्यता या हेत्वाभासता का उपपादन तदनन्तर किया जायेगा।

वराङ्गचरित में यापनीयमतविरुद्ध सिद्धान्त

१

केवलिभुक्तिनिषेध

वरांगचरित के निम्नलिखित श्लोकों में अरहन्त भगवान् में क्षुधा, तृषा आदि दोषों का अभाव बतलाया गया है, जो केवलिभुक्ति-निषेध का जाज्वल्यमान प्रमाण है—

निद्राश्रमक्लेशविषादचिन्ता - क्षुत्तृड्जराव्याधिभयैर्विहीनाः।
अविस्मयाः स्वेदमलैरपेता आप्ता भवन्त्यप्रतिमस्वभावाः॥ २५/८७॥

द्वेषश्च रागश्च विमूढता च दोषाशयस्ते जगति प्ररूढाः।
न सन्ति तेषां गतकल्मषाणां तानर्हतस्त्वाप्ततमा वदन्ति॥ २५/८८॥

अनुवाद—"जो निद्रा, श्रम, क्लेश, विषाद, चिन्ता, क्षुधा, तृषा, जरा, व्याधि और भय से रहित हो गये हैं, जिनमें विस्मय का भी अभाव हो गया है तथा पसीना आदि मलों की उत्पत्ति भी जिनमें समाप्त हो गयी है, वे अनुपम स्वभाववाले आत्मा

आप्त होते हैं। संसारी जीवों में जो रागद्वेषमोह विद्यमान रहते हैं, वे उपर्युक्त दोषरहित आप्तों में नहीं होते, इसलिए उन्हें आप्ततमों (सर्वज्ञों) ने अरहन्त कहा है।''

यहाँ अरहन्त भगवान् में क्षुधा-तृषा की पीड़ाओं का अभाव स्पष्ट शब्दों में बतलाया गया है, जो केवलिभुक्ति-निषेध का ज्वलन्त प्रमाण है। मात्र इस एक प्रमाण से वरांगचरित का यापनीयग्रन्थ न होना सिद्ध हो जाता है, क्योंकि स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्ति की मान्यताएँ यापनीयमत के मौलिक सिद्धान्त हैं और उनमें से केवलिभुक्ति का मौलिक सिद्धान्त यहाँ अस्वीकार किया गया है। इस एक प्रमाण से यह भी सिद्ध हो जाता है कि यह दिगम्बरग्रन्थ है और यापनीयपक्षधर ग्रन्थलेखक ने इसे यापनीयग्रन्थ सिद्ध करने के लिए जो तर्क दिये हैं, वे सब असत्य हैं या हेत्वाभास हैं।

केवलिभुक्तिनिषेध पर आवरण : छलवाद

उपर्युक्त यापनीयपक्षधर ग्रन्थ-लेखक ने दावा किया है कि उन्होंने मूल ग्रन्थ को प्रयासपूर्वक देखा है। वे लिखते हैं—''यद्यपि श्रीमती पटोरिया के अनुसार वरांगचरित में ऐसा कोई साक्ष्य उपलब्ध नहीं है, जिससे जटासिंहनन्दी और उनके ग्रन्थ को यापनीय कहा जा सके, किन्तु मेरी दृष्टि में श्रीमती कुसुम पटोरिया का यह कथन समुचित नहीं है। संभवतः उन्होंने मूल ग्रन्थ को देखने का प्रयत्न ही नहीं किया और द्वितीयक स्रोतों से उपलब्ध सूचनाओं के आधार पर ऐसा मानस बना लिया। मैंने यथासंभव मूल ग्रन्थ को देखने का प्रयास किया है और उसमें मुझे ऐसे अनेक तत्त्व मिले हैं, जिनके आधार पर वरांगचरित और उसके कर्त्ता जटिलमुनि या जटासिंहनन्दी को दिगम्बरपरम्परा से भिन्न यापनीय अथवा कूर्चकपरम्परा से सम्बद्ध माना जा सकता है।'' (जै.ध.या.स./पृ. १८५)।

मान्य ग्रन्थलेखक का यह दावा कितना खोखला है, यह इसी बात से सिद्ध है कि उनकी दृष्टि वरांगचरित में केवलिभुक्ति का निषेध करनेवाले उपर्युक्त श्लोकों पर नहीं गई। अथवा गई हो, तो उन्होंने उन्हें छिपाने का प्रयास किया है और एक दिगम्बरग्रन्थ को यापनीयग्रन्थ सिद्ध करने के लिए न्यायशास्त्र के छलवाद नामक अवैध मार्ग का आश्रय लिया है।

वरांगचरित में उपलब्ध यापनीयमत-विरुद्ध सिद्धान्तों में केवलिभुक्ति-निषेध तो केवल एक उदाहरण है। अन्य उदाहरण भी देखिए।

२

वैकल्पिक सवस्त्रमुक्ति-निषेध

यापनीयमत में निर्वस्त्रमुक्ति के अतिरिक्त सवस्त्रमुक्ति का विकल्प भी मान्य किया गया है। अतः उसमें वस्त्रधारी पुरुष को भी मुनि नाम दिया गया है। किन्तु वरांगचरित में

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

सर्वत्र निर्ग्रन्थ या दिगम्बर को ही 'मुनि' शब्द से अभिहित किया गया है। यथा—

व्यपेतमात्सर्यमदाभ्यसूयाः सत्यव्रताः क्षान्तिदयोपपन्नाः।
सन्तुष्टशीलाः शुचयो विनीता निर्ग्रन्थशूरा इह पात्रभूताः॥ ७/५०॥

अनुवाद—"जिनके मात्सर्य, मद और असूया दोष नष्ट हो गये हैं, जो सत्यव्रती हैं, क्षमा और दया से युक्त हैं तथा सन्तोषी, निर्लोभ और विनीत हैं, वे ही निर्ग्रन्थमुनि आहारादिदान के लिए उत्तम पात्र हैं।"

निम्नलिखित श्लोक में कहा गया है कि 'वरांग' आदि मुनि हेमन्त ऋतु में **दिगम्बर** होते हुए भी अभ्रावकाशयोग (खुले आकाश के नीचे योग) धारण करते थे—

हेमन्तकाले धृतिबद्धकक्षा दिगम्बरा ह्यभ्रवकाशयोगाः।
हिमोत्कारोन्मिश्रितशीतवायुं प्रसेहिरेऽत्यर्थमपारधैर्याः॥ ३०/३२॥

इन कथनों से स्पष्ट है कि वरांगचरित में दिगम्बरों को ही मुनि कहा गया है, वस्त्रधारियों को नहीं।

२.१. राजा वरांग की दैगम्बरी दीक्षा

वरदत्त केवली के उपदेश को सुनकर राजा वरांग दैगम्बरी दीक्षा ग्रहण करते हैं। इसका वर्णन जटासिंहनन्दी ने निम्नलिखित श्लोकों में किया है—

विशालबुद्धिः श्रुतधर्मतत्त्वः प्रशान्तरागः स्थिरधीः प्रकृत्या।
तत्याज निर्माल्यमिवात्मराज्यमन्तःपुरं नाटकमर्थसारम्॥ २९/८५॥

विभूषणाच्छादनवाहनानि पुराकरग्राममडम्बखेडैः।
आजीवितान्तात्प्रजहौ स बाह्यमभ्यन्तरांस्तांश्च परिग्रहाद्यान्॥ २९/८६॥

अपास्य मिथ्यात्वकषायदोषान्प्रकृत्य लोभं स्वयमेव तत्र।
जग्राह धीमानथ जातरूपमन्यैरशक्यं विषयेषु लोलैः॥ २९/८७॥

अनुवाद—"राजा वरांग अत्यधिक बुद्धिमान् थे। धर्म के तत्त्व को उन्होंने सुना और समझा था। उनका राग शान्त हो गया था। उनकी बुद्धि स्वभाव से ही स्थिर थी। अत एव उन्होंने अपने राज्य को इस प्रकार त्याग दिया, जैसे कोई निर्माल्य द्रव्य को त्याग देता है और अपने गुणरूपयुक्त अन्तःपुर को ऐसे भूल गये, जैसे ज्ञानी नाटक के दृश्यों को भूल जाता है। (२९/८५)

"उन्होंने आभूषण, आच्छादन (वस्त्र), वाहन, पुर, आकर, ग्राम, मडम्ब और खेड़ा, इन समस्त बाह्य परिग्रहों को तथा इनके कारणभूत आभ्यन्तर परिग्रह को जीवनपर्यन्त के लिए त्याग दिया।" (२९/८६)

"उन बुद्धिमान् वरांग ने मिथ्यात्व और कषायरूपी दोषों को धो डाला। लोभ को भी स्वयं विनष्ट कर दिया तथा उस जातरूप (जैसा जन्म के समय रहता है वैसे नग्नरूप) को धारण कर लिया, जो विषयों में आसक्त अन्य लोगों के लिए धारण करना संभव नहीं है।" (२९/८७)।

यहाँ हम देखते हैं कि राजा वरांग मुनिदीक्षा ग्रहण करते समय सम्पूर्ण राज्य और वैभव के साथ वस्त्र और आभूषण भी त्याग देते हैं तथा बिलकुल वैसा नग्न रूप धारण कर लेते हैं, जैसा गर्भ से निकले शिशु का होता है।

इससे स्पष्ट है कि वरांगचरित में राजा-महाराजाओं के लिए भी वैकल्पिक सवस्त्र मुनिदीक्षा का विधान नहीं है। यह यापनीयमत-विरुद्ध सिद्धान्त का स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादन है।

२.२. वरांगियों के वर्णन को वरांग का वर्णन कहना छलवाद

किन्तु 'जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय' ग्रन्थ के लेखक ने राजा वरांग की वरांगी (सुन्दर अंगोंवाली) रानियों के आर्यिकादीक्षा-वर्णन को राजा वरांग का मुनिदीक्षा-वर्णन समझ लिया है और रानियों के द्वारा आर्यिका-दीक्षा हेतु धारण किये गये श्वेतवस्त्र को राजा वरांग के द्वारा मुनिदीक्षा हेतु धारण किया गया मानकर वरांगचरित को यापनीयग्रन्थ सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। वरांगचरित के जिन पद्यों में रानियों की दीक्षा का वर्णन है, वे इस प्रकार हैं—

क्षितीन्द्रपत्न्यः कमलायताक्ष्यो विचित्ररत्नप्रविभूषिताङ्ग्यः।
परीत्य भक्त्यार्पितचेतसस्ता नमः प्रकुर्वन्मुनये प्रहृष्टाः॥ २९/९२॥

ततो हि गत्वा श्रमणार्जिकानां समीपमभ्येत्य कृतोपचाराः।
विविक्तदेशे विगतानुरागा जहुर्वराङ्ग्यो वरभूषणानि॥ २९/९३॥

गुणांश्च शीलानि तपांसि चैव प्रबुद्धतत्त्वाः सितशुभ्रवस्त्राः।
सङ्गृह्य सम्यग्वरभूषणानि जिनेन्द्रमार्गाभिरता बभूवुः॥ २९/९४॥

मन्त्रीश्वरामात्यपुरोहितानां पुरप्रधानर्द्धिमतां गृहिण्यः।
नृपाङ्गनाभिः सुगतिप्रियाभिर्दिदीक्षिरे ताभिरमा तरुण्यः॥ २९/९५॥

अनुवाद—"राजा वरांग के साथ उनकी रानियाँ भी वरदत्त-केवली के दर्शन करने के लिए गयी थीं। उनकी आँखें कमलों के समान मनोहर थीं। उनके अंग विचित्र रत्नों से विभूषित थे। उन्होंने प्रसन्न होकर भक्तिभाव से मुनि वरदत्त की प्रदक्षिणा कर उन्हें नमस्कार किया।" (२९/९२)।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

"तत्पश्चात् श्रमणा (श्रमणी) आर्जिकाओं के पास जाकर उनकी वन्दना की। फिर वैराग्यभाव से परिणत वरांगियों (सुन्दरियों) ने एकान्त स्थान में जाकर अपने बहुमूल्य आभूषण उतार दिये, श्वेतवस्त्र धारण कर लिये और गुण, शील तथा तपरूपी समीचीन आभूषणों से विभूषित हो, तत्त्वों को हृदयंगम कर जिनमार्ग में प्रवृत्त हो गयीं।" (२९/९३-९४)।

"उन रानियों को मोक्षमार्ग में प्रवृत्त होते हुए देखकर मन्त्रियों, अमात्यों, पुरोहितों और नगरश्रेष्ठियों की तरुणी पत्नियों के मन में भी वैराग्य उत्पन्न हो गया और रानियों के साथ उन्होंने भी आर्यिकादीक्षा ग्रहण कर ली।" (२९/९५)।

इन पद्यों में राजा वरांग की पत्नियों और उनके साथ मन्त्री, पुरोहित आदि की पत्नियों के द्वारा आर्यिकादीक्षा ग्रहण किये जाने का वर्णन है। अतः स्पष्ट है कि आभूषणों का परित्याग और श्वेतवस्त्र धारण उन्हीं के द्वारा किया गया। किन्तु उक्त ग्रन्थलेखक उपर्युक्त पद्यों का निर्देश करते हुए लिखते हैं—

"वरांगचरित में वरांगकुमार की दीक्षा का विवरण देते हुए लिखा गया है कि 'श्रमण और आर्यिकाओं के समीप जाकर तथा उनका विनयोपचार (वन्दन) करके वैराग्ययुक्त वरांगकुमार ने एकान्त में जाकर सुन्दर आभूषणों का त्याग किया तथा गुण, शील, तप एवं प्रबुद्धतत्त्वरूपी सम्यक् श्रेष्ठ आभूषण तथा श्वेत शुभ्र वस्त्रों को ग्रहण करके वे जिनेन्द्र द्वारा प्रतिपादित मार्ग में अग्रसर हुए।' दीक्षित होते समय मात्र आभूषणों का त्याग करना तथा श्वेत शुभ्र वस्त्रों को ग्रहण करना दिगम्बरपरम्परा के विरोध में जाता है। इससे ऐसा लगता है कि जटासिंहनन्दी दिगम्बरपरम्परा से भिन्न किसी अन्य परम्परा का अनुसरण करनेवाले थे। यापनीयों में अपवादमार्ग में दीक्षित होते समय राजा आदि का नग्न होना आवश्यक नहीं माना गया था। चूँकि वरांगकुमार राजा थे, अतः संभव है कि उन्हें सवस्त्र ही दीक्षित होते दिखाया गया हो। यापनीयग्रन्थ भगवती-आराधना एवं उसकी अपराजिताटीका में हमें ऐसे निर्देश मिलते हैं कि राजा आदि कुलीन पुरुष दीक्षित होते समय या संथारा ग्रहण करते समय अपवादलिंग (सवस्त्र) रख सकते हैं।" (जै.ध.या.स./पृ.१९६-१९७)।

इस कथन के प्रमाण में ग्रन्थलेखक ने पादटिप्पणी में '**ततो हि गत्वा श्रमणार्जिकानां**' आदि उपर्युक्त गाथाओं (२९/९३-९४) को ही उद्धृत किया है।

यह कथन ग्रन्थलेखक की संस्कृतभाषा से अनभिज्ञता प्रकट करता है और उनके छलवाद को भी। **वराङ्ग्यो** (**वराङ्ग्यः**) पद स्त्रीलिंगीय **वराङ्गी** शब्द का प्रथमाविभक्ति-बहुवचन का रूप है। वह पूर्व पद्य में वर्णित **क्षितीन्द्र पत्न्यः** (राजा वरांग की पत्नियाँ) पद का विशेषण है। **वराङ्गी शब्द का अर्थ है सुन्दर अंगोंवाली**। अतः **वराङ्ग्यः क्षितीन्द्र-**

पत्न्यः का अर्थ है राजा वरांग की सुन्दर अंगोंवाली पत्नियाँ। '**क्षितीन्द्रपत्न्यः कमलायताक्ष्यो**' इत्यादि तीन पद्यों (२९/९२-९४) में वर्णित **कमलायताक्ष्यो, विचित्ररत्नप्रविभूषिताङ्ग्यः भक्त्यार्पितचेतसः, प्रहृष्टाः, विगतानुरागाः, प्रबुद्धतत्त्वाः,** एवं **सितशुभ्रवस्त्राः** पद भी राजा वरांग की रानियों के विशेषण हैं। इस प्रकार तीनों पद्यों में राजा वरांग की रानियों की आर्यिकादीक्षा का वर्णन है। अतः श्वेतवस्त्र धारण करने का वर्णन उन्हीं के विषय में है, राजा वरांग के विषय में नहीं, यह **क्षितीन्द्रपत्न्यः** पद के प्रयोग से स्पष्ट है। राजा वरांग की मुनिदीक्षा का वर्णन तो '**विशालबुद्धिः श्रुतधर्मतत्त्वः**' इत्यादि पूर्वोद्धृत पद्यों (२९/८५-८७) में किया जा चुका है, जिनमें कहा गया है कि राजा वरांग ने राज्य, वाहन आभूषण, आच्छादन (वस्त्र) आदि का निर्माल्य के समान परित्याग कर **जातरूप** (**नग्नरूप**) धारण कर लिया। इस प्रकार 'वरांगचरित' में राजा वरांग की दैगम्बरीदीक्षा का वर्णन है, सवस्त्रदीक्षा का नहीं।

इसलिए यद्यपि संस्कृतभाषा के ज्ञान के अभाव में यह माना जा सकता है कि उक्त ग्रन्थलेखक ने वराङ्गियों (रानियों) के विषय में किये गये कथन को वरांग के विषय में किया गया मान लिया है, तथापि यह नहीं माना जा सकता कि संस्कृत का ज्ञान न होते हुए भी उन्होंने हिन्दी अनुवाद नहीं पढ़ा होगा। यदि न पढ़ा होता, तो उक्त पद्यों का जितना थोड़ा बहुत सही अर्थ उन्होंने लिखा है, उतना भी नहीं लिख सकते थे। इसलिए यह निश्चित है कि उन्होंने उक्त संस्कृत पद्यों का हिन्दी अनुवाद अवश्य पढ़ा है और हिन्दी अनुवाद में तो 'वराङ्गचो' शब्द का 'वरांगकुमार' अर्थ किसी भी संस्कृतज्ञ के द्वारा नहीं किया जा सकता, न किया गया है। तब उन्होंने हिन्दी अर्थ का अनुसरण न कर अपने मन से 'वरांगकुमार' अर्थ क्यों ग्रहण किया? यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है। साथ ही यह प्रश्न भी उठना स्वाभाविक है कि जब पूर्व पद्यों में राजा वरांग के दिगम्बररूप में दीक्षित होने का कथन किया जा चुका है, तब उन्होंने यहाँ उन्हें सवस्त्ररूप में दीक्षित क्यों बतलाया? विचार करने पर स्पष्ट होता है कि यह उनके द्वारा जगह-जगह अपनाये गये छलवाद का बृहत्तम उदाहरण है, जिसके सहारे उन्होंने अनेक दिगम्बरग्रन्थों को यापनीयग्रन्थ सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।

२.३. वरांग की सवस्त्रदीक्षा की संभावना के लिए स्थान नहीं

यापनीयपक्षी ग्रन्थलेखक का पूर्वोद्धृत यह कथन भी अत्यन्त आश्चर्यजनक है कि "यापनीयों में अपवादमार्ग में दीक्षित होते समय राजा आदि का नग्न होना आवश्यक नहीं माना गया था। चूँकि वरांगकुमार राजा थे, अतः सम्भव है कि उन्हें सवस्त्र ही दीक्षित होते दिखाया गया हो।" यह कथन सूचित करता है कि उन्होंने वरांगचरित

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

को आद्योपान्त पढ़ा ही नहीं है। पूर्व में '**राजा वरांग की दैगम्बरी दीक्षा**' शीर्षक (२.१) के अन्तर्गत उन पद्यों को उद्धृत कर चुका हूँ, जिनमें वरांगचरितकार ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि मुनिदीक्षा लेते समय राजा वरांग ने राज्य, वाहन, आभूषण, आच्छादन (वस्त्र) आदि का निर्माल्य की तरह परित्याग कर **जातरूप** (**नग्नरूप**) धारण कर लिया। यदि उक्तग्रन्थ लेखक ने वे पद्य पढ़े होते, तो वे ऐसा न लिखते कि 'संभव है वरांगकुमार को सवस्त्र ही दीक्षित दिखाया गया हो'। उन पद्यों में प्रयुक्त **जातरूपं जग्राह** शब्दों को पढ़ लेने पर किसी प्रकार की संभावना करने या अटकल लगाने के लिए स्थान ही नहीं रहता। इनको पढ़ने से तो निश्चित हो जाता है कि राजा वरांग की सवस्त्र-दीक्षा नहीं, अपितु निर्वस्त्र दैगम्बरी-दीक्षा हुई थी।

२.४. साधु के साथ 'सवस्त्र' शब्द का प्रयोग एक भी बार नहीं

वरांगकुमार की सवस्त्रदीक्षा सिद्ध करने के लिए उक्त ग्रन्थलेखक तर्क देते हैं कि वरांगचरित में वरांग मुनि के लिए 'दिगम्बर' शब्द का प्रयोग केवल एक बार मिलता है, हेमन्तकाल में शीतपरीषह सहते समय। (जै.ध.या.स./पृ.१९७)।

उनका तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि वरांगकुमार दीक्षित तो वस्त्रसहित ही हुए थे, केवल हेमन्तकाल में **अभ्रावकाशयोग** के समय दिगम्बर हो जाते थे। इसीलिए उन्हें हेमन्तकाल में शीतपरीषह सहते समय दिगम्बर कहा गया है।

किन्तु यह तर्क भी सिद्ध करता है कि मान्य ग्रन्थलेखक ने वरांगचरित का अध्ययन सतही तौर पर किया है, एक सरसरी निगाह भर डाली है, उसमें आलोड़न नहीं किया, इसीलिए ऐसी अतथ्यपूर्ण बातें उन्होंने लिखी हैं।

पहली बात तो यह है कि वरांगकुमार को केवल अभ्रावकाशयोग के समय ही दिगम्बर नहीं कहा गया है, अपितु दीक्षा ग्रहण करते समय भी जातरूप (नग्नत्व) धारण करनेवाला कहा गया है। इसके अतिरिक्त **वृक्षमूलयोग, आतापनयोग, अस्पर्शयोग** आदि के समय भी उन्हें दिगम्बर रूप में ही चित्रित किया गया है। कहा गया है कि वर्षा ऋतु में वृक्षमूलयोग के समय जल की धाराओं से उनके शरीर का मैल धुल जाता था—'**धाराभिधौताङ्गमलाः**' (३०/३१) और विद्युत् के प्रकाशरूपी वस्त्र उनके शरीर से लिपट जाते थे—'**विद्युल्लतावेष्टनभूषिताङ्गाः**' (३०/३१)। ग्रीष्मऋतु में आतापनयोग करने से सूर्यताप के कारण शरीर से पसीना बहता था, जिससे उड़ती हुई धूल देह पर बैठ जाती थी और देह धूल से लिप्त हो जाती थी—'**स्वेदाङ्गमासक्तरजः-प्रलिप्ताः**' (३०/३५)। इन वर्णनों से शरीर का नग्न रहना ही सूचित होता है। तथा वरांगचरित में ऐसा कथन कहीं भी नहीं है कि वरांगकुमार कभी वस्त्र ग्रहण कर लेते थे, कभी दिगम्बर हो जाते थे।

और राजा वरांग के लिए 'दिगम्बर' शब्द का प्रयोग तो **दिगम्बर, निर्ग्रन्थ, निरस्तभूषाः** (३०/२) और **जातरूप** शब्दों से कई बार किया गया है, किन्तु उनके वस्त्रधारी होने का कथन ग्रन्थ में कहीं भी नहीं मिलता। इसलिए 'मुनि के लिए **दिगम्बर** शब्द का प्रयोग एक ही बार मिलता है,' मान्य लेखक का यह कथन भी सत्य नहीं है। और यदि हेमन्तकाल में शीतपरीषह सहते समय ही 'दिगम्बर' शब्द का प्रयोग मिलता, तो इससे यह तो सिद्ध नहीं हो सकता था कि शेष समय में वरांग मुनि या अन्य कोई मुनि सवस्त्र रहते थे। यह तो तभी सिद्ध होता, जब ग्रन्थ में ऐसा कथन होता। ऐसा कथन नहीं है, इससे सिद्ध है कि हेमन्तकाल के अतिरिक्त अन्य कालों में वरांग मुनि के सवस्त्र रहने की कल्पना उक्त यापनीयपक्षधर ग्रन्थ लेखक ने दुरभिप्रायवश स्वयं की है, वरांगचरित में उसका कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। तथा जो मुनि हेमन्तकाल में नग्न रह सकते थे, वे अन्य कालों में वस्त्रधारण कर लेते होंगे, यह मान्यता भी युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि ऐसा करने का कोई प्रयोजन दृष्टिगोचर नहीं होता।

२.५. 'विशीर्णवस्त्रा' मुनियों का नहीं, आर्यिकाओं का विशेषण

उपर्युक्त यापनीयपक्षधर ग्रन्थलेखक महोदय ने लिखा है कि वरांगचरित में "मुनियों के लिए सामान्यतया 'विशीर्णवस्त्रा' शब्द का प्रयोग हुआ है।" (जै.ध.या.स./पृ.१९७)।

यह मिथ्या निष्कर्ष भी उनकी संस्कृत भाषा से अनभिज्ञता का अथवा ग्रन्थ का गंभीरता-पूर्वक अध्ययन न करने का अथवा छलवाद का उदाहरण है। 'विशीर्णवस्त्रा' (छिन्नभिन्न-वस्त्रवाली) विशेषण का प्रयोग वरांग आदि मुनियों के लिए नहीं, अपितु आर्यिकादीक्षा ग्रहण कर लेनेवाली उनकी पत्नियों के लिए हुआ है। वरांगचरित का इकतीसवाँ सर्ग नरेन्द्रपत्नियों के तपश्चरण के वर्णन से शुरू होता है और १५वें श्लोक तक चलता रहता है। प्रथम श्लोक में कहा गया है—

नरेन्द्रपत्न्यः श्रुतिशीलभूषा निर्वेदसंवर्धितधर्मरागाः।
विशुद्धिमत्यः प्रतिपन्नदीक्षास्तदा बभूवुः परिपूर्णकामाः॥ ३१ / १॥

अनुवाद—"राजा वरांग की रानियाँ श्रुत और शील से अलंकृत थीं, वैराग्य से उनका धर्मानुराग बढ़ गया था, उनकी बुद्धि विशुद्ध थी। दीक्षा लेने पर उनकी अन्तिम कामना भी पूर्ण हो गई थी।"

इस क्रम से उनके धर्माचरण का वर्णन करते हुए १३वें श्लोक में कहा गया है—

तपोऽग्निनिर्दग्धविवर्णदेहा व्रतोपवासैरकृशाः कृशाङ्ग्यः।
विशीर्णवस्त्रावृतगात्रयष्ट्यस्ताः काष्ठमात्रप्रतिमा बभूवुः॥ ३१ / १३॥

अनुवाद—"तप की अग्नि से झुलस कर उनका शरीर विवर्ण हो गया था। पहले से तो वे दुबली-पतली थी हीं, व्रतों और उपवासों से और भी दुबली-पतली हो गईं। उनके शरीर की साड़ी छिन्न-भिन्न हो गई थी। वे काठ से बनायी हुई पुतलियों के समान लगती थीं।"

इस प्रकार यह कथन राजा वरांग की रानियों के विषय में है। यह प्रथम श्लोक (**नरेन्द्रपत्न्यः** ३१/१) के प्रसंग से भी स्पष्ट है तथा १३वें श्लोक में प्रयुक्त **कृशाङ्ग्यः, ताः, विवर्णदेहाः** एवं **काष्ठमात्रप्रतिमाः** इन स्त्रीलिंगीय प्रथमा-बहुवचन के रूपों से भी स्पष्ट है। इसलिए **विशीर्णवस्त्रावृतगात्रयष्टयः** यह विशेषण भी उन्हीं के लिए प्रयुक्त हुआ है।

इससे स्पष्ट है कि यापनीयपक्षी मान्य ग्रन्थलेखक द्वारा **विशीर्णवस्त्राः** विशेषण का प्रयोग मुनियों के लिए माना जाना उनकी संस्कृतभाषा से अनभिज्ञता, अथवा वरांगचरित के गंभीरतापूर्वक अध्ययन के अभाव अथवा छलवाद का सूचक है। इस तरह हम देखते हैं कि उक्त ग्रन्थलेखक ने एक दिगम्बरग्रन्थ को यापनीयग्रन्थ सिद्ध करने के लिए कितना **शोधधर्म-विरुद्ध** अवैधानिक मार्ग अपनाया है!

इसी प्रकार उक्त ग्रन्थलेखक महोदय ने ३०वें सर्ग के दूसरे श्लोक में वरांग मुनि के लिए प्रयुक्त **निरस्तभूषाः** शब्द से 'साजसज्जारहित' अर्थ ग्रहण किया है, 'नग्न' अर्थ नहीं। (जै.ध.या.स./पृ.१९७)। अर्थात् उनका वरांग मुनि को वस्त्रधारी ही मानने का आग्रह है। किन्तु ठीक इसके पूर्व २९वें सर्ग के ८५-८७ श्लोकों में कहा गया है कि राजा वरांग ने राज्य और वस्त्रादि परिग्रह का निर्माल्य की तरह परित्याग कर जातरूप (नग्नरूप) धारण कर लिया था। इससे स्पष्ट है कि उनके तथा उनके साथ में दीक्षित मुनियों के लिए प्रयुक्त **निरस्तभूषाः** विशेषण वस्त्राभूषणादि समस्त परिग्रह का त्याग कर नग्न हो जाने का ही सूचक है। उक्त ग्रन्थलेखक ने उस विशेषण पर स्वाभीष्ट अर्थ का आरोपण कर दिगम्बरग्रन्थ वरांगचरित को यापनीयग्रन्थ सिद्ध करने हेतु छलवाद की पद्धति अपनायी है।

२.६. निर्ग्रन्थशूर ही मोक्ष के पात्र

वरांगचरित में जटासिंहनन्दी ने निर्ग्रन्थशूरों को ही मोक्ष का पात्र बतलाया है—

क्षमाविभूषाः पृथुशीलवस्त्रा गुणावतंसा दममाल्यलीलाः।
निर्ग्रन्थशूरा धृतिबद्धकक्षास्ते मोक्षमक्षीणमभिव्रजन्ति॥ १०/१२॥

अनुवाद—"जो क्षमारूप अलंकार, उत्तमशीलरूपी वस्त्र, गुणरूपी कर्णाभूषण तथा दमरूपी माल्य धारण करते हैं एवं जिनकी कटि धैर्य से कसी हुई है, वे दिगम्बर-मुनिरूपी वीर ही मोक्ष प्राप्त करते हैं।"

पूर्वोद्धृत श्लोकों में प्रयुक्त **दिगम्बर** और **जातरूप** शब्दों से सिद्ध है कि वरांगचरित-कार ने **निर्ग्रन्थ** शब्द का प्रयोग नग्न दिगम्बर मुनि के अर्थ में किया है। अतः इस प्रयोग से भी सिद्ध होता है कि वरांगचरित में वैकल्पिक सवस्त्रमुक्ति के लिये स्थान नहीं दिया गया है।

२.७. परीषहजयविधान दिगम्बरत्व की अनिवार्यता का सूचक

वरांगचरित में स्वर्ग और मोक्ष दोनों की प्राप्ति के लिए मुनि को परीषहजय आवश्यक बतलाया गया है, यह मुनि के लिए निर्वस्त्र रहने की अनिवार्यता का सूचक है, क्योंकि वस्त्रधारी को परीषह संभव नहीं हैं। श्वेताम्बर और यापनीय साधना-पद्धतियों में परीषहजय आदि में असमर्थ पुरुषों के लिए ही वैकल्पिक रूप से वस्त्रग्रहण की अनुमति दी गई है। इससे स्पष्ट है कि जिन ग्रन्थों में मुनि के लिए परीषहजय की आवश्यकता का प्रतिपादन है, वे न तो श्वेताम्बरग्रन्थ हैं, न यापनीयग्रन्थ। वरांगचरित के निम्न पद्य में आहारादिदान के लिए उत्तमपात्र उन्हीं मुनियों को बतलाया गया है, जो अन्य गुणों से युक्त होते हुए परीषहों से विचलित नहीं होते—

येषां तु चारित्रमखण्डनीयं मोहान्धकारश्च विनाशितो यैः।
परीषहेभ्यो न चलन्ति ये च ते पात्रभूता यतयो जिताशाः॥ ७/५२॥

जो परीषहों से क्षणभर के लिए भी नहीं डिगते, बारह प्रकार के तप में दृढ़ रहते हैं, पाँचों समितियों में सावधान तथा त्रिगुप्ति-गुप्त होते हैं, उन्हें वरांगचरित में स्वर्ग में पदार्पण करनेवाला कहा गया है—

परीषहाणां क्षणमप्यकम्प्या द्विषट्प्रकारे तपसि स्थिताश्च।
ये चाप्रमत्ताः समितौ सदा ते त्रिगुप्तिगुप्तास्त्रिदिवं प्रयान्ति॥ ९/३४॥

ऐसे ही मुनियों को वरांगचरित में सर्वज्ञत्व की प्राप्ति बतलायी गयी है—

ईर्यापथादिष्वपि चाप्रमत्तो निर्वेदसंवेगविशुद्धभावः।
परीषहान्दुर्विषहान् विजित्य तपस्क्रियां तां यतते यथोक्ताम्॥ ११/३२॥

सम्प्राप्य सार्वज्ञ्यमनुत्तमश्रीर्विधूय कर्माणि निरस्तदोषः।
निःश्रेयसां शान्तिमुदारसौख्यां लब्ध्वा चिरं तिष्ठति निष्ठितार्थः॥ ११/३३॥

इन प्रमाणों से सिद्ध है कि वरांगचरित में वैकल्पिक सवस्त्रमुक्ति का निषेध किया गया है, जो उसके यापनीयग्रन्थ न होने और दिगम्बरग्रन्थ होने का पक्का सबूत है।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

३

स्त्रीमुक्तिनिषेध

श्वेताम्बर और यापनीय परम्पराओं में भिक्खुणी-दीक्षा लेनेवाली स्त्रियों को उसी पर्याय से मुक्तिगामिनी माना गया है, किन्तु वरांगचरित में इसके विपरीत वर्णन है। उसमें कहा गया है कि राजा वरांग के साथ आर्यिकादीक्षा ग्रहण करनेवाली उसकी रानियों ने अपने तप के बल से स्वर्ग प्राप्त किया था। यथा—

महेन्द्रपत्न्यः श्रमणत्वमाप्य प्रशान्तरागाः परिणीतधर्माः।
दयादमक्षान्तिगुणैरुपेताः स्वैः स्वैस्तपोभिस्त्रिदिवं प्रजग्मुः॥ ३१ / ११३॥

वरांगचरितकार के अनुसार स्त्रियाँ ही नहीं, पुरुष भी रत्नत्रय की आराधना कर पहले देव और मनुष्य गतियों का सुख भोगते हैं, पश्चात् क्रम से निर्वाण प्राप्त करते हैं—

सदृष्टिसज्ज्ञानचरित्रवद्भ्यो भक्त्या प्रयच्छन्ति सुदृष्टयो ये।
भुक्त्वा सुखं ते सुरमानुषाणां क्रमेण निर्वाणमवाप्नुवन्ति॥ ७ / ५३॥

ये कथन इस बात के सूचक हैं कि स्त्रीपर्याय से साक्षात् मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। रत्नत्रय की आराधना से पहले देवगति प्राप्त होगी, पश्चात् मनुष्यगति एवं परिपूर्ण संयम के साधनभूत पुरुषशरीर और वज्रवृषभनाराचसंहनन प्राप्त होने पर सकल संयम द्वारा मोक्षप्राप्ति संभव है।

श्वेताम्बर और यापनीय सम्प्रदायों की मान्यता है कि तीर्थंकर मल्लिनाथ स्त्री थे। अत एव उनके ग्रन्थों में उन्हें स्त्रीलिंगीय **मल्ली** शब्द से अभिहित किया गया है,[१] जबकि वरांगचरित में पुंल्लिंगीय **मल्लिः** शब्द का प्रयोग है। साथ ही उन्हें जितने भी विशेषणों से विशेषित किया गया है, वे सब पुंल्लिंग हैं, जिनसे मल्लिनाथ के स्त्री होने का निषेध और पुरुष होने की मान्यता पुष्ट होती है। यथा—'**कुन्थुस्त्वरो मल्लिरतुल्यवीर्यः॥**' (२७/३९)।

यहाँ 'मल्लिः' शब्द तथा उसके विशेषण 'अतुल्यवीर्यः' दोनों के साथ पुंल्लिंग का प्रयोग हुआ है, जो मल्लिनाथ के पुरुष होने का सूचक है। निम्नलिखित स्थलों पर भी पुंल्लिंग का ही प्रयोग किया गया है—"**मल्लिर्नमिश्चाप्यपराजिताख्यात्।**" (२७/६७) अर्थात् मल्लिनाथ तथा नमिनाथ अपराजित स्वर्ग से अवतरित हुए थे। "**नमिश्च**

---

१. "तए णं सा मल्ली विदेहरायवरकन्ना ण्हाया जाव पायच्छित्ता सव्वालंकारविभूसिया ---।" ज्ञातृधर्मकथाङ्ग / अध्ययन ८ / अनुच्छेद १३९।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

मल्लिर्मिथिलाप्रसूतौ।'' (२७/८४) अर्थात् नमिनाथ और मल्लिनाथ का जन्म मिथिला में हुआ था।

मल्लिनाथ के पुरुष होने की यह मान्यता श्वेताम्बर और यापनीय मतों के विरुद्ध है। इससे सिद्ध होता है कि वरांगचरित श्वेताम्बर और यापनीय परम्पराओं से भिन्न परम्परा का अर्थात् दिगम्बरपरम्परा का है।

इसके अतिरिक्त यापनीयमान्य श्वेताम्बर-आगम 'ज्ञातृधर्मकथाङ्ग' में यह माना गया है कि भगवती मल्ली पूर्वभव में **जयन्त नामक अनुत्तर विमान** में देवपर्याय में थीं, जब कि वरांगचरित के अनुसार मल्लिनाथ भगवान् पूर्वभव में **अपराजित नामक अनुत्तर विमान** में देव थे। (देखिये, उपर्युक्त उद्धरण)। दिगम्बरग्रन्थ **तिलोयपण्णत्ती** में भी उनके अपराजित विमान से अवतरित होने की बात कही गई है। इससे भी सूचित होता है कि वरांगचरित की परम्परा श्वेताम्बर और यापनीय परम्पराओं से भिन्न है।

उपर्युक्त कथन इस तथ्य के प्रमाण हैं कि वरांगचरित स्त्रीमुक्ति को स्वीकार नहीं करता।

४

महावीर का विवाह न होने की मान्यता

यापनीयमान्य श्वेताम्बर-आगम आचारांग के अनुसार भगवान् महावीर का विवाह हुआ था। उनकी पत्नी का नाम यशोदा था, जो कौण्डिन्य-गोत्रीया थीं। उनकी पुत्री के दो नाम थे : अनवद्या और प्रियदर्शना। उसका गोत्र काश्यप था।[२]

किन्तु वरांगचरित का कथन है कि उनका विवाह नहीं हुआ था। वे कुमारकाल में ही दीक्षित हो गये थे—

मल्लिश्च पार्श्वो वसुपूज्यपुत्रोऽप्यरिष्टनेमिश्च तथैव वीरः।
कौमारकाले वयसि प्रयाता भुक्त्वा भुवं ते प्रययुश्च शेषाः॥ २७/८९॥

अनुवाद—''तीर्थंकर वासुपूज्य, मल्लिनाथ, अरिष्टनेमि (नेमिनाथ), पार्श्वनाथ और महावीर, ये पाँच कौमारकाल में ही दीक्षित हो गये थे। शेष तीर्थंकर पृथ्वी का भोग करके प्रव्रजित हुए थे।''

---

२. ''समणस्स णं भगवओ महावीरस्स भज्जा जसोया गोत्तेणं कोडिण्णा। समणस्स णं भगवओ महावीरस्स धूया कासवगोत्तेणं। तीसे णं दो णामधेज्जा एवमाहिज्जंति, तं जहा–अणोज्जा त्ति वा पियदंसणा त्ति वा।'' आचारांगसूत्र / द्वितीयश्रुतस्कन्ध / अध्ययन १५/ भावना / पृ. ४८८।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

यह कथन यापनीयमत के विरुद्ध है। यह भी इस ग्रन्थ के यापनीयाचार्यकृत न होने का एक प्रमाण है।

५

अन्यलिंगिमुक्ति-निषेध

यापनीयमत में जैनेतर मतों में प्रतिपादित मोक्षमार्ग से भी मुक्ति होना स्वीकार किया गया है। किन्तु वरांगचरित में केवल जिनप्रणीत तत्त्वों के श्रद्धान, ज्ञान एवं अनुचरण को ही मोक्षमार्ग बतलाया गया है। अन्य मतवालों को अन्यतीर्थ[३] शब्द से अभिहित किया गया है और कहा गया है—

अश्रद्दधाना ये धर्मं जिनप्रोक्तं कदाचन।
अलब्धतत्त्वविज्ञाना मिथ्याज्ञानपरायणाः॥ २६ / ८॥

अनाद्यनिधनाः सर्वे मग्नाः संसारसागरे।
अभव्यास्ते विनिर्दिष्टा अन्धपाषाणसन्निभाः॥ २६ / ९॥

अनुवाद—"जो जिनेन्द्र द्वारा उपदिष्ट धर्म में विश्वास नहीं करते, वे तत्त्वज्ञान से रहित और मिथ्याज्ञान से ग्रस्त होने के कारण अनादि-अनन्त संसारसागर में डूबे रहते हैं। उन्हें अन्धपाषाण के समान अभव्य कहा गया है।"

यह भी वरांगचरित के यापनीयग्रन्थ न होने का एक प्रमाण है।

६

महाव्रतों की भावनाएँ तत्त्वार्थाधिगमभाष्य से भिन्न

दिगम्बरमान्य तत्त्वार्थसूत्र में प्रत्येक महाव्रत की पाँच-पाँच भावनाओं का वर्णन करनेवाले पाँच सूत्र हैं, किन्तु श्वेताम्बरीय तत्त्वार्थाधिगमसूत्र में उनका अभाव है। यद्यपि तत्त्वार्थाधिगमभाष्य में उनका उल्लेख है, तथापि वे दिगम्बरमान्य तत्त्वार्थसूत्र में वर्णित भावनाओं से कुछ भिन्न हैं। वरांगचरित में दिगम्बरमान्य तत्त्वार्थसूत्र में वर्णित भावनाओं का अनुसरण किया गया है। उदाहरणार्थ—

अहिंसामहाव्रत की पाँच भावनाओं में जो वचनगुप्ति है, उसके स्थान पर तत्त्वार्थाधिगमभाष्य (७/३/पृ.३२०) में एषणासमिति का उल्लेख है। किन्तु वरांगचरित में दिगम्बरमान्य तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार वचनगुप्ति ही स्वीकार की गई है।[४]

---

३. अर्हन्तमिदं पुण्यं स्याद्वादेन विभूषितम्।
अन्यतीर्थैरनालीढं वक्ष्ये द्रव्यानुयोजनम्॥ २६/१॥ वरांगचरित।

४. ईयासमाददाननिसर्गयत्नो वाणीमनोगुप्तिरपि प्रकाशे।
अनिन्द्यभुक्तिः प्रथमव्रतस्य ता भावनाः पञ्च मुनिप्रणीताः॥ वरांगचरित ३१/७६।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

तत्त्वार्थाधिगमभाष्य (७/३/पृ.३२०) में अचौर्य महाव्रत की भावनाएँ इस प्रकार बतलायी गयी हैं : अनुवीचि-अवग्रहयाचन, अभीक्ष्ण-अवग्रहयाचन, अवग्रहावधारण, साधर्मिक से अवग्रहयाचन और अनुज्ञापितपानभोजन। वरांगचरित में इनमें से एक का भी उल्लेख नहीं है। उसमें दिगम्बरमान्य तत्त्वार्थसूत्र का ही अनुसरण किया गया है। (३१/७८)।

तत्त्वार्थाधिगमभाष्य (७/३) में ब्रह्मचर्यमहाव्रत की भावनाओं में स्त्री, पशु अथवा नपुंसक द्वारा सेवित शयन आदि का त्याग आवश्यक बतलाया गया है, जबकि वरांगचरित में स्त्रियों से परिपूर्ण आवास में रहने का निषेध है। (३१/७९)।

इस भिन्नता से सूचित होता है कि वरांगचरित की परम्परा श्वेताम्बर और यापनीय परम्पराओं से भिन्न दिगम्बरपरम्परा है।

७

यापनीयमत-विरुद्ध अन्य सिद्धान्त

जटासिंहनन्दी ने वरांगचरित में ऐसे अन्य सिद्धान्तों का भी प्रतिपादन किया है, जो यापनीयमत के विरुद्ध हैं। यहाँ उनका संक्षेप में निर्देश किया जा रहा है—

१. वरांगचरित में मुनि के लिए बाह्य और अभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रह के त्याग का विधान किया गया है। यथा—

बाह्याभ्यन्तरनैःसङ्ग्याद् गृहीत्वा तु महाव्रतम्।
मरणान्ते तनुत्यागः सल्लेखः स प्रकीर्त्यते॥ १५/१२५॥

यह यापनीयमत के विरुद्ध है, क्योंकि उसमें वैकल्पिक सचेललिंग में वस्त्र-पात्र रूप बाह्यपरिग्रह के ग्रहण की अनुमति दी गई है।

२. वरांगचरित में स्वतन्त्र काल द्रव्य की सत्ता स्वीकार की गई है। यथा—

जीवपुद्गलकालाश्च धर्माधर्मौ नभोऽपि च।
षड्द्रव्याण्युदितान्येवं तेषां लक्षणमुच्यते॥ २६/५॥

वर्तनालक्षणः कालस्त्रिधा सोऽपि प्रभिद्यते।
अतीतोऽनागतश्चैव वर्तमान इति स्मृतः॥ २६/२७॥

यह मान्यता भी श्वेताम्बर-आगमों को प्रमाण माननेवाले यापनीयों के मत के विरुद्ध है। श्वेताम्बरमत में काल द्रव्य की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार नहीं की गई है। (त.सू./वि.स./पृ.१४४-१४५)।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

३. वरांगचरित में चौदह गुणस्थानों का कथन है[५] जिसका तात्पर्य यह है कि उसके अनुसार अयोगकेवली गुणस्थान के अन्त में ही मोक्ष की प्राप्ति मान्य की गई है। यह सिद्धान्त भी यापनीयमत के विरुद्ध है, क्योंकि यापनीयमत अन्यलिंगियों और गृहस्थों की मुक्ति मानने के कारण मिथ्यादृष्टि-गुणस्थान और संयतासंयत-गुणस्थान में भी मुक्ति स्वीकार करता है।

४. वरांगचरित में प्रथम अनुयोग के लिए दिगम्बरमत के अनुसार **प्रथमानुयोग**[६] नाम का ही प्रयोग किया गया है, जब कि यापनीयमान्य श्वेताम्बरसाहित्य में **धर्मकथा-नुयोग** शब्द का प्रयोग मिलता है।

५. वरांगचरित में वेदत्रय की स्वीकृति है। यह भी यापनीयमत के विरुद्ध है, क्योंकि पाल्यकीर्ति शाकटायन ने केवल एक ही वेदसामान्य स्वीकार किया है। इसका कारण यह है कि वेदत्रय का सिद्धान्त यापनीयों के स्त्रीमुक्ति-सिद्धान्त में बाधक है। इसका स्पष्टीकरण षट्खण्डागम के अध्याय में किया जा चुका है।

वरांगचरित में मान्य ये सभी सिद्धान्त यापनीयमत के विरुद्ध हैं। ये दिगम्बरग्रन्थ के लक्षण और यापनीयग्रन्थ के प्रतिलक्षण हैं। इन लक्षण और प्रतिलक्षणरूप नेत्रों से देखने पर स्पष्टतः दिखाई देता है कि वरांगचरित यापनीय आचार्य की नहीं, अपितु दिगम्बराचार्य की कृति है और उसके कर्त्ता जटासिंहनन्दी दिगम्बर हैं।

---

५. स्थानानि जीवस्य चतुर्दशानि तथैव हि स्थातुचरिष्णुतां च।
सम्यक्त्वमिथ्यात्वविमिश्रितत्वं शशंस सम्यक्सफलं यतिभ्यः॥ ३०/४॥ वरांगचरित।

६. ततो नरेन्द्रः प्रथमानुयोगं प्रारब्धवान् संसदि वक्तुमुच्चैः।
सभा पुनस्तस्य वचोऽनुरूपं शुश्रूषयामावहिता बभूव॥ २७/१॥ वरांगचरित।

✧✧✧

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

द्वितीय प्रकरण

यापनीयपक्षधर हेतुओं की असत्यता एवं हेत्वाभासता

पूर्ववर्णित यापनीयमत-विरुद्ध सिद्धान्तों के वरांगचरित में उपलब्ध होने से सिद्ध है कि वह यापनीयग्रन्थ नहीं, अपितु दिगम्बरग्रन्थ है। अतः उसे यापनीयग्रन्थ सिद्ध करने के लिए 'जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय' ग्रन्थ के लेखक डॉ० सागरमल जी जैन ने जो हेतु प्रस्तुत किये हैं, वे सब या तो असत्य साबित होते हैं या हेत्वाभास। उन हेतुओं का वर्णन नीचे किया जा रहा है और यह दर्शाया जा रहा है कि उनमें से कौन-सा असत्य है और कौन-सा हेत्वाभास। हेतु का उल्लेख **यापनीयपक्ष** शीर्षक के नीचे और उसकी असत्यता या हेत्वाभासता के निर्णायक प्रमाण **दिगम्बरपक्ष** शीर्षक के नीचे प्रदर्शित किये जा रहे हैं।

१

'श्रवण' या 'श्रमण' सचेलमुनि का वाचक नहीं

यापनीयपक्ष

उक्त ग्रन्थलेखक महोदय ने वरांगचरित में सवस्त्रमुक्ति का विधान सिद्ध करने के उद्देश्य से उसकी उक्तियों में स्वाभीष्ट अर्थ आरोपित करने हेतु विभिन्न युक्तियों के आविष्कार का द्राविड़ प्राणायाम किया है। वरांगचरित में कहा गया है—

आहारदानं मुनिपुङ्गवेभ्यो वस्त्रान्नदानं श्रवणार्यिकाभ्यः।
किमिच्छदानं खलु दुर्गतेभ्यो दत्त्वा कृतार्थो नृपतिर्बभूव॥ २३/९२॥

अनुवाद—"(इन्द्रकूट जिनालय के निर्माण, जिनबिम्बप्रतिष्ठा, अभिषेक एवं पूजन के बाद) राजा वरांग ने मुनिश्रेष्ठों को आहारदान किया, श्रावकों और आर्यिकाओं को वस्त्रदान और आहारदान किया तथा दरिद्रों को किमिच्छकदान किया, और ऐसा करके उन्होंने अपने जीवन को सफल माना।"

इस पर टिप्पणी करते हुए उपर्युक्त ग्रन्थलेखक कहते हैं—"वरांगचरित में श्रमणों और आर्यिकाओं को वस्त्रदान की चर्चा है। यह तथ्य दिगम्बरपरम्परा के विपरीत है। उसमें लिखा है कि 'वह नृपति मुनिपुंगवों को आहारदान, श्रमणों और आर्यिकाओं को वस्त्र और अन्नदान तथा दरिद्रों को याचितदान (किमिच्छदानं) देकर कृतार्थ हुआ' यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि मूल श्लोक में जहाँ मुनिपुङ्गवों के लिए आहारदान का उल्लेख किया गया है, वहाँ श्रमण और आर्यिकाओं के लिए वस्त्र और अन्न (आहार) के दान का प्रयोग हुआ है। संभवतः यहाँ अचेल मुनियों के लिए ही 'मुनिपुङ्गव'

...णजी पचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

शब्द का प्रयोग हुआ है और सचेल मुनि के लिए 'श्रमण'। भगवती-आराधना एवं उसकी अपराजित की टीका से यह स्पष्ट हो जाता है कि यापनीयपरम्परा में अपवादमार्ग में मुनि के लिए वस्त्र-पात्रग्रहण करने का निर्देश है। वस्त्रादि के सन्दर्भ में उपर्युक्त सभी तथ्यों को दृष्टिगत रखते हुए यह कहा जा सकता है कि जटासिंहनन्दी और उनका वरांगचरित भी यापनीय / कूर्चक परम्परा से सम्बद्ध रहा है।" (जै.ध.या.स. / पृ.१९८-१९९)।

ग्रन्थलेखक ने पाद-टिप्पणी में लिखा है—"ज्ञातव्य है कि मूल में प्रूफ की अशुद्धि से **श्रमण** के स्थान पर **श्रवण** छप गया है।" (पृ.१९९)।

दिगम्बरपक्ष

मान्य ग्रन्थ लेखक ने 'श्रवण' शब्द के प्रयोग को अशुद्ध बतलाकर जटासिंहनन्दी और पाणिनि दोनों को चुनौती दे दी है। वस्तुतः 'श्रवण' शब्द 'श्रावक' का पर्यायवाची है। पाणिनि के अनुसार श्रवणार्थक 'श्रु' धातु में कर्त्ता (श्रोता) के अर्थ में 'ण्वुल्' और 'ल्युट्' दोनों प्रत्ययों का प्रयोग होता है और क्रमशः 'श्रावक' और 'श्रवण' रूप बनते हैं। '**कृत्यल्युटो बहुलम्**' इस पाणिनिसूत्र के अनुसार ल्युट् प्रत्यय अनेक कारकों के अर्थ में प्रयुक्त होता है। अतः ल्युट्-प्रत्ययान्त 'श्रवण' शब्द को जटासिंहनन्दी ने **श्रवणार्यिकाभ्यः** में कर्त्ताकारक अर्थात् सुननेवाले (श्रावक) के अर्थ में प्रयुक्त किया है। इसलिए वहाँ श्रावकों और आर्यिकाओं को वस्त्र और आहार का दान किया, यही अर्थ जटासिंहनन्दी को अभिप्रेत है। जिन श्रावकों को दान दिया था, वे वही हैं, जिन्होंने राजा वरांग के इन्द्रकूट जिनालय के निर्माण, जिनबिम्बप्रतिष्ठा, अभिषेक एवं पूजन में ब्रह्मचर्य का पालन कर, उपवास धारण कर पूजनसामग्री आदि को ले जाने का कार्य किया था (२३/३२-३३), तथा जिन्होंने स्नापकाचार्य (२३/६९) एवं गृहस्थाचार्य की भूमिका निभाई थी। (२३/८४-८८) इसलिए वहाँ प्रूफ की अशुद्धि बतलाकर 'श्रवण' शब्द के स्थान में स्वाभीष्ट 'श्रमण' शब्द आरोपित करना पहला छलवाद है, फिर श्रमण शब्द में स्वाभीष्ट 'सवस्त्रमुनि' अर्थ आरोपित करना दूसरा छलवाद है। सम्पूर्ण वरांगचरित में कहीं भी सवस्त्रमुनि को श्रमण नहीं कहा गया है। सर्वत्र श्रमण का लक्षण 'निर्ग्रन्थ', 'दिगम्बर', 'जातरूपग्राही' और 'निरस्तभूषः' शब्दों से ही प्रतिपादित किया गया है। तब किस प्रमाण के आधार पर 'श्रमण' शब्द से सचेलमुनि अर्थ ग्रहण करने का अधिकार प्राप्त किया गया? अपनी प्रतिबद्ध मानसिकता के आधार पर स्वाभीष्ट मत के आरोपण द्वारा इतिहास को प्रदूषित करनेवाले निर्णय घोषित करना उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य की श्रेणी में नहीं गिना जा सकता।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

अपरं च—

तपोधनानाममितप्रभावा गणाग्रणी संयमनायका सा।
मुनीन्द्रवाक्याच्छ्रमणार्जिकाभ्यो दिदेश धर्मं च तपोविधानाम्॥ ३१/६॥

अनुवाद—"श्री वरदत्त केवली के समीप उपस्थित आर्यिकाओं में एक प्रधान आर्यिका थीं, जिनका सभी तपोधनाओं (आर्यिकाओं) में अमित प्रभाव था। वे संयम की नेत्री थीं। महाराज वरदत्त के आदेश से उन्होंने नवदीक्षित श्रमणार्जिकाओं (श्रमणा अर्जिकाओं) को धर्म और तप की विधियाँ सिखा दीं।"

'श्रमण' शब्द के स्त्रीलिंग में 'श्रमणा' और 'श्रमणी' दोनों रूप बनते हैं। (देखिये, वामन शिवराम आप्टे-कृत संस्कृत-हिन्दी-कोश)।

इन दोनों उदाहरणों में **श्रमणार्जिका** शब्द आया है और यहाँ मुनियों से कोई तात्पर्य नहीं है। क्योंकि पहले उदाहरण में मुनि वरदत्त और उनके साथ बैठे हुए मुनियों को प्रणाम करने के बाद आर्यिकाओं को ही प्रणाम करना शेष रहता है। अतः वहाँ 'श्रमणा' शब्द के स्थान में 'श्रमण' शब्द मानकर उसका प्रयोग मुनि-अर्थ में मानने से पुनरावृत्ति दोष का प्रसंग आता है। फलस्वरूप वह वहाँ 'अर्जिका' के विशेषण रूप में ही प्रयुक्त हुआ है। इसकी पुष्टि दूसरे उदाहरण से होती है। दूसरे उदाहरण में कहा गया है कि गणिनी आर्यिका ने वरदत्त महाराज के आदेश से श्रमणार्जिकाओं को धर्म और तप की विधियाँ सिखा दीं। यहाँ 'श्रमणा' शब्द के स्थान में 'श्रमण' शब्द मानकर उससे मुनि-अर्थ ग्रहण नहीं किया जा सकता। इसके दो कारण हैं। पहला यह कि यह इकतीसवें सर्ग का श्लोक नवदीक्षित नरेन्द्रपत्नियों के प्रसंग में आया है। ३१वें सर्ग का आरंभ राजा वरांग की नवदीक्षित पत्नियों और उनके साथ दीक्षित हुई अन्य स्त्रियों की तपस्या के वर्णन से होता है और १६वें श्लोक तक चलता है। उसके अन्तर्गत यह छठवाँ श्लोक है, जिसमें 'श्रमणार्जिका' शब्द आया है। अतः यहाँ आर्यिकाओं को ही गणिनी आर्यिका के द्वारा धर्मविधि सिखाने का प्रसंग है, किसी मुनि को नहीं। दूसरी बात यह है कि मुनि का पद आर्यिकाओं से उच्च होता है, इसलिए पंचमगुणस्थानवर्ती आर्यिका के द्वारा षष्ठगुणस्थानवर्ती मुनियों को उपदेश दिया जाना न तो दिगम्बरमत की मर्यादा के अनुकूल है, न श्वेताम्बरमत की। अतः सिद्ध है कि उपर्युक्त उदाहरणों में 'श्रमणा' शब्द अर्जिका के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है और उसका प्रयोजन है आर्यिकाओं के **श्रमणत्व** को रेखांकित करना, जैसा कि वरांगचरितकार के '**महेन्द्रपत्न्यः श्रमणत्वमाप्य**' (३१/११३) इस प्रयोग से संकेतित होता है। (देखिये, प्रकरण १, शीर्षक ३)।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

अतः यदि '**वस्त्रान्नदानं श्रवणार्यिकाभ्यः**' (२३/९२) में **श्रवण** के स्थान में **श्रमण** शब्द माना जाय, तो वह भी युक्तिसंगत होगा। किन्तु उससे 'मुनि' अर्थ ग्रहण नहीं किया जा सकता, अपितु उपर्युक्त दो उदाहरणों के समान उसे **श्रमणा** के रूप में 'आर्यिका' का ही विशेषण माना जा सकता है। ऐसा मानने का एक कारण यह भी है कि सम्पूर्ण वरांगचरित में मुनि को निर्ग्रन्थ, दिगम्बर और जातरूपधर ही कहा गया है, सचेल कहीं भी नहीं कहा गया।

यद्यपि 'मूलाचार' (गाथा ७८७, ८३२, ८७३ आदि) में श्रमण के अर्थ में 'श्रवण' शब्द का भी प्रयोग हुआ है, तथापि जटासिंहनन्दी ने 'वरांगचरित' के पूर्वोद्धृत पद्य (२३/९२) में 'श्रवण' शब्द का प्रयोग श्रावक के ही अर्थ में किया है, क्योंकि वहाँ जिनालय-निर्माण, जिनबिम्बप्रतिष्ठा, अभिषेक-पूजन आदि शुभ कार्यों के सम्पन्न होने के उपलक्ष्य में राजा वरांग के द्वारा मुनियों को आहारदान और आर्यिकाओं को वस्त्रान्नदान के साथ उपर्युक्त शुभ कार्यों में सहयोग करनेवाले श्रावकों एवं गृहस्थाचार्यों को पुरस्कृत करने एवं निर्धनों को किमिच्छक दान देने का प्रसंग है। इसके अतिरिक्त उक्त पद्य में मुनियों के लिए 'मुनिपुंगव' शब्द का प्रयोग किया गया है। अतः 'श्रवण' शब्द को भी 'मुनि' का वाचक मानने से पुनरुक्तिदोष का प्रसंग आता है।

फिर भी यदि वहाँ 'श्रवण' शब्द को 'श्रमण' का ही वाचक माना जाय, तो वहाँ अर्जिका के विशेषण 'श्रवणा' (श्रमणा) का ही प्रयोग मानना होगा, क्योंकि श्रमणों का कथन उक्त पद्य के प्रथम पाद में 'मुनिपुंगव' शब्द से किया जा चुका है। अतः वहाँ 'श्रवणा' या 'श्रमणा' शब्द के स्थान में 'श्रमण' शब्द मानते हुए उससे मुनि अर्थ ग्रहणकर मुनियों को वस्त्रदान का अभिप्राय लेना वरांगचरितकार की मान्यताओं और अभिप्राय के विरुद्ध है। अतः वरांगचरित को यापनीयग्रन्थ सिद्ध करने के लिए जो यह हेतु बतलाया गया है कि उसमें 'श्रमण' शब्द से सचेलमुनियों का अस्तित्व स्वीकार किया गया है, वह सर्वथा असत्य है। इससे सिद्ध है कि यह यापनीयपरम्परा का नहीं, अपितु दिगम्बरपरम्परा का ग्रन्थ है।

२

पुन्नाटसंघ का विकास पुन्नागवृक्षमूलगण से नहीं

यापनीयपक्ष

हरिवंशपुराण के कर्त्ता जिनसेन पुन्नाटसंघीय थे। पुन्नाटसंघ का विकास यापनीय-सम्प्रदाय के पुन्नागवृक्षमूलगण से हुआ था। अतः जिनसेन यापनीय थे। उन्होंने जटासिंहनन्दी का आदरपूर्वक उल्लेख किया है। अतः वे भी यापनीय रहे होंगे। (जै.ध.या.स./पृ.१८७)।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

दिगम्बरपक्ष

१. पुन्नाटसंघ का विकास यापनीयसम्प्रदाय के पुन्नागवृक्षमूलगण से हुआ था, यह कथन किसी प्रमाण के आधार पर नहीं, अपितु कल्पना के आधार पर किया गया है। इतिहास में ऐसा कोई भी प्रमाण नहीं है, जिससे यह सिद्ध हो कि पुन्नाटसंघ का उद्भव यापनीय-पुन्नागवृक्षमूलगण से हुआ था। वस्तुतः 'पुन्नाट' कर्नाटक का प्राचीन नाम था। इसी के आधार पर पुन्नाट के दिगम्बर जैन मुनियों का संघ 'पुन्नाटसंघ' के नाम से प्रसिद्ध हुआ था। इसका विस्तार से विवेचन प्रस्तुत ग्रन्थ के 'हरिवंशपुराण' नामक अध्याय (प्रकरण २/शीर्षक १) में द्रष्टव्य है।

२. वरांगचरित में उपलब्ध यापनीयमत-विपरीत सिद्धान्तों से सिद्ध है कि वह दिगम्बरग्रन्थ है। इससे इस बात में कोई सन्देह नहीं रहता कि उसके कर्त्ता जटासिंहनन्दी दिगम्बर थे।

३. हरिवंशपुराण में भी यापनीयमतविरोधी सिद्धान्तों का प्रतिपादन है।[७] अतः उसके कर्त्ता जिनसेन भी दिगम्बर थे, इसलिए उनके द्वारा सादर उल्लिखित किये जाने से (उक्त ग्रन्थलेखक के तर्क के अनुसार) जटासिंहनन्दी दिगम्बर ही सिद्ध होते हैं।

इस प्रकार पुन्नाटसंघ का विकास यापनीय पुन्नागवृक्षमूलगण से हुआ था तथा हरिवंशपुराणकार यापनीय थे, ये दोनों हेतु मिथ्या हैं। अतः वरांगचरित यापनीय ग्रन्थ सिद्ध नहीं होता।

३

काणूरगण दिगम्बरसम्प्रदाय का ही गण था

यापनीयपक्ष

कन्नड़ कवि जन्न ने जटासिंहनन्दी को काणूरगण का बताया है। यह यापनीयपरम्परा का गण था। अतः जटासिंहनन्दी यापनीय थे। (जै.ध.या.स./पृ.१८८)।

दिगम्बरपक्ष

यापनीयसंघ का इतिहास नामक अध्याय (७) के तृतीय प्रकरण में सप्रमाण सिद्ध किया जा चुका है कि काणूरगण या क्राणूरगण दिगम्बर मूलसंघ का ही गण था। यापनीयसंघ में कण्डूरगण था। 'जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय' ग्रन्थ के लेखक ने भ्रम से काणूरगण और कण्डूरगण को एक मान लिया है। अतः उपर्युक्त हेतु असत्य है।

---

७. देखिये, एकविंश अध्याय—'हरिवंशपुराण'/ प्रथम प्रकरण।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

४

कोप्पल से सम्बद्ध होना यापनीय होने का लक्षण नहीं

यापनीयपक्ष

कोप्पल में जटासिंहनन्दी के चरणचिह्न हैं। संभवतः वहाँ उनका समाधिमरण हुआ होगा। कोप्पल यापनीयों का मुख्यपीठ था। अतः जटासिंहनन्दी के यापनीय होने की प्रबल संभावना है। (जै.ध.या.स./पृ.१८९-१९०)।

दिगम्बरपक्ष

१. इस हेतु के आधार पर तो उन सब लोगों को यापनीय मानना होगा जिनका मरण कोप्पल में हुआ होगा। किन्तु इसे सिद्ध करनेवाला कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है, अतः कोप्पल में समाधिमरण होने के कारण जटसिंहनन्दी यापनीय सिद्ध नहीं होते।

२. वरांगचरित में यापनीयमत-विरुद्ध सिद्धान्तों के प्रतिपादन से सिद्ध है कि जटासिंहनन्दी दिगम्बर थे। इसलिए उन्हें यापनीय सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत यह (कोप्पल में मरण का) हेतु हेत्वाभास है।

५

'यति' शब्द का प्रयोग यापनीय होने का लक्षण नहीं

यापनीयपक्ष

''यापनीयपरम्परा में मुनि के लिए **यति** का प्रयोग अधिक प्रचलित रहा है। यापनीय आचार्य पाल्यकीर्ति शाकटायन को **यतिग्रामाग्रणी** कहा गया है। हम देखते हैं कि जटासिंहनन्दी के इस वरांगचरित में भी मुनि के लिए **यति** शब्द का प्रयोग बहुतायत से हुआ है। ग्रन्थकार की यह प्रवृत्ति उसके यापनीय होने का संकेत करती है।'' (जै.ध.या.स./पृ.१९०)

दिगम्बरपक्ष

दिगम्बराचार्य **यतिवृषभ** के नाम में भी 'यति' शब्द का प्रयोग है। न्यायदीपिका के कर्त्ता दिगम्बराचार्य **अभिनवधर्मभूषणयति** के साथ भी 'यति' शब्द जुड़ा हुआ है। दिगम्बराचार्य कुन्दकुन्द ने भी मुनि के लिए 'यति' शब्द व्यवहृत किया है। जैसे—

मोत्तूण णिच्छयट्ठं ववहारेण विदुसा पवट्टंति।
परमट्ठमस्सिदाण दु जदीण कम्मक्खओ विहिओ॥ १५६॥ स.सा.।

तथा

एसो बंधसमासो जीवाणं णिच्छयेण णिद्दिट्ठो।
अरहंतेहिं जदीणं ववहारो अण्णहा भणिदो॥ २/९७॥ प्र.सा.।

इन दोनों गाथाओं में **यति** (जदीण) शब्द का प्रयोग किया गया है। समन्तभद्र स्वामी के **स्वयम्भूस्तोत्रगत** निम्न पद्य में भी 'यति' का सम्बोधनरूप '**यते**' शब्द प्रयुक्त हुआ है—

शशिरुचिशुचिशुक्ललोहितं सुरभितरं विरजो निजं वपुः।
तव शिवमतिविस्मयं यते! यदपि च वाङ्मनसीयमीहितम्॥ ११३॥

इसके अतिरिक्त पाल्यकीर्ति शाकटायन के अलावा अन्य किसी यापनीय आचार्य या मुनि के साथ 'यतिग्रामाग्रणी' उपाधि के प्रयुक्त होने का उदाहरण उपलब्ध नहीं है। अतः 'यति' शब्द का प्रयोग यापनीय होने का असाधारणधर्म या लक्षण न होने से यह हेतु भी हेत्वाभास है।

६
वरांगचरित में श्वेताम्बरसाहित्य का अनुसरण नहीं

यापनीयपक्ष

"यापनीय आचार्य प्राचीन श्वेताम्बर आचार्यों के ग्रन्थों को पढ़ते थे। जटासिंहनन्दी के द्वारा प्रकीर्णकों, आवश्यकनिर्युक्ति तथा सिद्धसेन के सन्मतितर्क और विमलसूरि के पउमचरिय का अनुसरण यही बताता है कि वे यापनीयसम्प्रदाय से सम्बन्धित रहे होंगे।" (जै.ध.या.स./पृ. १८७)।

दिगम्बरपक्ष

सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेन : दिगम्बराचार्य नामक अध्याय (१८) में सिद्ध किया जा चुका है कि वे दिगम्बर थे, न कि श्वेताम्बर या यापनीय। अतः 'सन्मतिसूत्र' का अनुसरण करने से जटासिंहनन्दी यापनीय सिद्ध नहीं होते। फलस्वरूप प्रस्तुत हेतु असत्य है।

तथा प्रकीर्णक साहित्य की जिन गाथाओं को वरांगचरित में रूपान्तरित माना गया है, वे श्वेताम्बर-प्रकीर्णक ग्रन्थों की नहीं हैं, अपितु दिगम्बराचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों की तथा दिगम्बरग्रन्थ 'भगवती-अराधना' एवं 'मूलाचार' की हैं। यह 'आचार्य कुन्दकुन्द का समय' नामक दशम अध्याय में सप्रमाण सिद्ध किया जा चुका है। (देखिये, अध्याय १०/प्रकरण १/शीर्षक ८)। इसका एक प्रमाण यह है कि—

भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च।
आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं॥ १३॥

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

समयसार की यह गाथा श्वेताम्बर-प्रकीर्णक ग्रन्थों में नहीं है, तथापि वरांगचरित में इस प्रकार रूपान्तरित की गई है—

जीवादयो मोक्षपदावसाना भूतार्थतो येऽधिगताः पदार्थाः।
नयप्रमाणानुगतक्रमेण सम्यक्त्वसंज्ञामिह ते लभन्ते॥ ३१/६८॥

इससे सिद्ध है कि जिन्हें यापनीयपक्षी ग्रन्थलेखक ने श्वेताम्बरग्रन्थों की गाथाएँ मान लिया है, वे कुन्दकुन्द के ग्रन्थों एवं दिगम्बरग्रन्थ भगवती-आराधना तथा मूलाचार की गाथाएँ हैं। वहीं से वे प्रकीर्णकों में पहुँची हैं और वे ही वरांगचरित में रूपान्तरित की गई हैं। इस प्रकार वे श्वेताम्बर-प्रकीर्णक-ग्रन्थों की गाथाएँ नहीं हैं, अतः यह हेतु भी असत्य है।

तथा

क्रियाहीनं च यज्ज्ञानं न तु सिद्धिं प्रयच्छति।
परिपश्यन्यथा पङ्गुर्मुग्धो दग्धो दवाग्निना॥ २६/९९॥

वरांगचरित का यह श्लोक भारतीय शिष्टसाहित्य और लोकसाहित्य में प्रसिद्ध अन्ध और पंगु की कथा पर आश्रित है, उसी के आधार पर आवश्यकनिर्युक्ति की **'हयं नाणं कियाहीणं'** (१०१) तथा **'संजोगसिद्धीइ फलं वयंति'** ये गाथाएँ रची गयी हैं और उसी (भारतीय शिष्ट-साहित्य और लोकसाहित्य) से प्रेरणा लेकर दिगम्बरसाहित्य में निम्नश्लोक की रचना हुई है—

ज्ञानं पङ्गौ क्रिया चान्धे निःश्रद्धे नार्थकृद्द्वयम्।
ततो ज्ञानक्रियाश्रद्धात्रयं तत्पदकारणम्॥[८]

तथा वैदिकसाहित्य की ईश्वरकृष्णरचित सांख्यकारिका में इस लोककथा का उपयोग इस रूप में किया गया है—

पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः॥ २१॥

अतः वरांगचरित के उक्त प्रकार के श्लोकों को आवश्यकनिर्युक्ति की गाथाओं का संस्कृत रूपान्तरण मानना प्रमाणबाधित और युक्तिबाधित है। अतः जटासिंहनन्दी को यापनीय सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत किया गया उपर्युक्त हेतु असत्य है।

---

८. यशस्तिलकचम्पू / उत्तरार्ध / पृष्ठ २७१। यशस्तिलकचम्पू का यह श्लोक तत्त्वार्थवृत्ति (प्रथम अध्याय के प्रथमसूत्र की प्रस्तावना) में पृष्ठ ३ पर उद्धृत किया गया है।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

तथा वरांगचरित (३१/१८) में जो यह कहा गया है कि वरांग मुनि ने अल्पकाल में 'आचार', 'प्रकीर्णक' आदि ग्रन्थों का अध्ययन कर लिया था, सो इन ग्रन्थों का अस्तित्व दिगम्बरपरम्परा में भी मान्य है। अतः इन्हें केवल श्वेताम्बरग्रन्थ मानना न्यायसंगत नहीं है।

७
विमलसूरि के पउमचरिय का अनुकरण नहीं

यापनीयपक्ष

जटासिंहनन्दी ने श्वेताम्बराचार्य विमलसूरि के 'पउमचरियं' का भी अनुकरण किया है। पउमचरियं के समान वरांगचरित में भी देशावकाशिकव्रत का अन्तर्भाव दिग्व्रत में मानकर उस रिक्त स्थान की पूर्ति के लिए सल्लेखना को बारहवाँ शिक्षाव्रत माना गया है। (वरांगचरित २२/२९-३०, १५/१११-१२५)। कुन्दकुन्द ने भी इस परम्परा का अनुसरण किया है। कुन्दकुन्द विमलसूरि से तो निश्चित ही परवर्ती हैं और संभवतः जटासिंहनन्दी से भी। अतः उनके द्वारा किया गया यह अनुसरण अस्वाभाविक भी नहीं है। विमलसूरि के पउमचरियं का अनुसरण रविषेण, स्वयम्भू आदि अनेक यापनीय आचार्यों ने किया है, अतः जटासिंहनन्दी के यापनीय होने की सम्भावना प्रबल प्रतीत होती है। (जै.ध.या.स./१९४-१९५)।

दिगम्बरपक्ष

विमलसूरि का समय श्वेताम्बराचार्यों ने ही वि० सं० ५३० (४७३ ई०) माना है। और इसे ही सब दृष्टियों से समुचित बतलाया है।[९] तथा कुन्दकुन्द का समय ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी है, यह दशम अध्याय में सिद्ध किया जा चुका है। अतः पूर्ववर्ती कुन्दकुन्द के द्वारा परवर्ती विमलसूरि का अनुसरण किया जाना स्वप्न में भी संभव नहीं है। इसी प्रकार जटासिंहनन्दी ईसा की सातवीं शताब्दी में हुए थे। अतः वे भी कुन्दकुन्द से सात सौ वर्ष उत्तरवर्ती हैं। इससे सिद्ध होता है कि जटासिंहनन्दी ने कुन्दकुन्द का ही अनुसरण करते हुए सल्लेखना को चार शिक्षाव्रतों में परिगणित किया है। पुनः रविषेण और स्वयम्भू दोनों दिगम्बर थे, इसके प्रमाण प्रस्तुत ग्रन्थ के तन्नामक अध्यायों में द्रष्टव्य हैं। अतः न तो यह सत्य है कि जटासिंहनन्दी ने विमलसूरि का अनुसरण किया है और न यह सत्य है कि रविषेण और स्वयम्भू यापनीय थे। इस प्रकार वरांगचरित को यापनीयग्रन्थ सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत किये गये ये दोनों हेतु असत्य हैं। फलस्वरूप वरांगचरित का दिगम्बरग्रन्थ होना असिद्ध नहीं होता।

---

९. साध्वी संघमित्रा : 'जैनधर्म के प्रभावक आचार्य'/पृ. २४५।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

८

कल्पों की बारह संख्या भी दिगम्बरमान्य

यापनीयपक्ष

वरांगचरित में कल्प नामक स्वर्गों की संख्या बारह मानी गयी है,[१०] जबकि दिगम्बर परम्परा में सोलह। यह मान्यता जटासिंहनन्दी को यापनीयपरम्परा का सिद्ध करती है। (जै.ध.या.स./पृ. १९५)।

दिगम्बरपक्ष

दिगम्बरपरम्परा में कल्पों की संख्या बारह और सोलह दोनों मानी गयी है। दिगम्बरग्रन्थ तिलोयपण्णत्ती में ऐसा स्पष्ट निर्देश है। दिगम्बर विद्वान् पं० जुगलकिशोर मुख्तार तथा मान्य श्वेताम्बर पण्डित सुखलाल जी संघवी ने भी यह स्वीकार किया है। उनके शब्द 'तिलोयपण्णत्ती' नामक सप्तदश अध्याय में उद्धृत किये जा चुके हैं। अतः दिगम्बरपरम्परा में बारह कल्पों को अमान्य मानने का हेतु असत्य है। इसलिए वरांगचरित में बारह कल्पों का उल्लेख होने से वह यापनीयपरम्परा का ग्रन्थ सिद्ध नहीं होता।

९

दिगम्बरपरम्परा में कर्मणा वर्णव्यवस्था मान्य

यापनीयपक्ष

वरांगचरित में जन्मना वर्णव्यवस्था का निषेध कर कर्मणा वर्णव्यवस्था स्वीकार की गई है। यथा—

क्रिया-विशेषाद्व्यवहार-मात्राद्दयाभिरक्षा-कृषि-शिल्प-भेदात्।
शिष्टाश्च वर्णांश्चतुरो वदन्ति न चान्यथा वर्णचतुष्टयं स्यात्॥ २५/११॥

यह भी कहा गया है कि ज्ञान, शील और गुण से युक्त पुरुष को ही ब्रह्मविदों ने ब्राह्मण कहा है। व्यास, वशिष्ठ, कमठ, कण्ठ, शस्त्रविद्या और शारीरिक शक्ति के उद्गमभूत द्रोणाचार्य एवं पराशर, इन सब ने अपने गुणों के बलें से ही ब्राह्मणत्व प्राप्त किया था।[११]

---

१०. "द्विषट्प्रकाराः खलु कल्पवासाः।" ९/२/वरांगचरित।

११. विद्याक्रियाचारुगुणैः प्रहीणो न जातिमात्रेण भवेत्स विप्रः।
ज्ञानेन शीलेन गुणेन युक्तं तं ब्राह्मणं ब्रह्मविदो वदन्ति॥ २५/४३॥
व्यासो वसिष्ठः कमठश्च कण्ठः शक्त्युद्गमौ द्रोणपराशरौ च।
आचारवन्तस्तपसाभियुक्ता ब्रह्मत्वमायुः प्रतिसम्पदाभिः॥ २५/४४॥ वरांगचरित।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

यह दृष्टिकोण उत्तराध्ययन आदि श्वेताम्बर-आगमिक धारा के निकट है, उस दिगम्बरपरम्परा के निकट नहीं, जो शूद्रजलग्रहण और शूद्रमुक्ति का निषेध करती है। इससे जटासिंहनन्दी और उनके ग्रन्थ वरांगचरित के यापनीय अथवा कूर्चक होने की पुष्टि होती है। (जै.ध.या.स./पृ. १९९-२००)।

दिगम्बरपक्ष

वरांगचरित के उपर्युक्त श्लोक में कहा गया है कि दया, रक्षा, कृषि और शिल्प इन चार कर्मविशेषों के आधार पर चार वर्ण निर्धारित किये गये हैं, यह तो स्पष्टतः दिगम्बरमत का प्रतिपादन है। दिगम्बराचार्य जिनसेन ने **आदिपुराण** (भाग १) में इस मत की व्याख्या इस प्रकार की है—

असिर्मषिः कृषिर्विद्या वाणिज्यं शिल्पमेव च।
कर्माणीमानि षोढा स्युः प्रजाजीवनहेतवः॥ १६ / १७९॥

तत्र वृत्तिं प्रजानां स भगवान् मतिकौशलात्।
उपादिक्षत् सरागो हि स तदासीज्जगद्गुरुः॥ १६ / १८०॥

तत्रासिकर्म सेवायां मषिर्लिपिविधौ स्मृता।
कृषिर्भूकर्षणे प्रोक्ता विद्या शास्त्रोपजीवने॥ १६ / १८१॥

वाणिज्यं वणिजां कर्म शिल्पं स्यात् करकौशलम्।
तच्च चित्रकलापत्रच्छेदादि बहुधाइ स्मृतम् ॥ १६ / १८२॥

उत्पादितास्त्रयो वर्णास्तदा तेनादिवेधसा।
क्षत्रिया वणिजः शूद्राः क्षतत्राणादिभिर्गुणैः॥ १६ / १८३॥

इन श्लोकों में स्पष्टरूप से कहा गया है कि आदिब्रह्मा ऋषभदेव ने क्षतत्राण (विपत्ति से रक्षा), कृषि-वाणिज्य-पशुपालन तथा शिल्प आदि गुणों (कर्मों) के आधार पर क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्णों की उत्पत्ति की। आदिपुराण (भाग २) के निम्नलिखित पद्य भी द्रष्टव्य हैं—

मनुष्य-जातिरेकैव जाति-नामोदयोद्भवा।
वृत्ति-भेदाहिताद् भेदाच्चातुर्विध्यमिहाश्नुते॥ ३८ / ४५॥

ब्राह्मणा व्रतसंस्कारात् क्षत्रियाः शस्त्रधारणात्।
वणिजोऽर्थार्जनान्न्याय्यात् शूद्रा न्यग्वृत्तिसंश्रयात्॥ ३८ / ४६॥

अनुवाद—"जातिनामकर्म के उदय से उत्पन्न हुई मनुष्य जाति एक ही है, तथापि आजीविका के भेद से वह चार प्रकार की हो गयी है।" (३८/४५)।

"व्रतों से संस्कृत लोग ब्राह्मण कहलाने लगे, शस्त्रधारण कर प्रजा की रक्षा करनेवाले लोगों का नाम क्षत्रिय हो गया। जो वाणिज्य से जीविकोपार्जन करने लगे, उनके लिए वैश्य नाम प्रचलित हुआ और जिन्होंने शिल्प एवं सेवा आदि का कर्म अपना लिया वे शूद्र शब्द से प्रसिद्ध हो गये।" (३८/४६)।

इन पद्यों में भी कहा गया है कि वृत्तिभेद के आधार पर ही चार वर्णों की सृष्टि हुई थी, जन्म के आधार पर नहीं।

जिन कृषि आदि कर्मों के आधार पर चार वर्णों की सृष्टि हुई थी, उनकी शिक्षा ऋषभदेव ने दी थी, इसका कथन आचार्य समन्तभद्र ने भी **स्वयम्भूस्तोत्र** में किया है। यथा—

प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषूः शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः।
प्रबुद्धतत्त्वः पुनरद्भुतोदयो ममत्वतो निर्विविदे विदांवरः॥ २॥

अनुवाद—"जिन प्रजापति ऋषभदेव ने सर्वप्रथम जीविकोपार्जन के लिए प्रजा को कृषि आदि कर्मों की शिक्षा दी थी, वे ही हेयोपादेय तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त कर अद्भुत उत्थान करते हुए ममत्व से मुक्त हो गये।"

आचार्य समन्तभद्र ने यह भी कहा है कि सम्यग्दर्शन से सम्पन्न होने पर चाण्डाल भी देवों के द्वारा पूज्य (देव) माना जाने लगता है। देखिये रत्नकरण्डश्रावकाचार का निम्नलिखित श्लोक—

सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातङ्गदेहजम्।
देवा देवं विदुर्भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसम्॥ १/२८॥

रत्नकरण्डश्रावकाचार में वे यह भी कहते हैं कि अहिंसाणुव्रत के पालन से एक चाण्डाल पूजातिशय को प्राप्त हुआ था—

मातङ्गो धनदेवश्च वारिषेणस्ततः परः।
नीली जयश्च सम्प्राप्ताः पूजातिशयमुत्तमम्॥ ३/१८॥

इस तरह दिगम्बरपरम्परा में कर्मणा वर्णव्यवस्था की मान्यता तथा गुणों के द्वारा चाण्डाल के भी पूज्य बन जाने के इतने प्रमाण उपलब्ध होने पर भी उस पर जन्मना वर्णव्यवस्था की मान्यता का आरोप करना छलवाद के अतिरिक्त और क्या है? **वरांगचरित में गुणकर्माश्रित वर्णव्यवस्था के दिगम्बरीय सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए ही व्यास, वसिष्ठ आदि के द्वारा ब्राह्मणत्व प्राप्त करने की बात कही गई है।** अतः दिगम्बरग्रन्थ वरांगचरित को यापनीयग्रन्थ सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत किया गया जन्मना वर्णव्यवस्था मानने का हेतु असत्य है।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

उपर्युक्त प्रमाणों से स्पष्ट हो जाता है कि यापनीयपक्षधर ग्रन्थलेखक ने दिगम्बरग्रन्थ वरांगचरित को यापनीयग्रन्थ सिद्ध करने के लिये जो हेतु प्रस्तुत किये हैं, उनमें कौन असत्य है और कौन हेत्वाभास। शीर्षक क्रमांक १, २, ३, ६, ७, ८, ९ में वर्णित हेतु असत्य हैं और ४, ५ में वर्णित हेतु हेत्वाभास हैं। उन की असत्यता और हेत्वाभासता दृष्टिगोचर हो जाने से यह सिद्ध हो जाता है कि वरांगचरित यापनीयपरम्परा का ग्रन्थ नहीं है, प्रत्युत दिगम्बरीय सिद्धान्तों का प्रतिपादक होने से दिगम्बरमत का ग्रन्थ है।

उपसंहार

वरांगचरित के दिगम्बरकृति होने के प्रमाण सूत्ररूप में

अब यहाँ उन समस्त प्रमाणों पर एक साथ दृष्टि डाल ली जाय, जिनसे सिद्ध होता है कि वरांगचरित यापनीयग्रन्थ नहीं, अपितु दिगम्बरग्रन्थ है। वे इस प्रकार हैं—

१. वरांगचरित में केवलिभुक्ति, वैकल्पिक सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति एवं अन्यलिंगिमुक्ति का निषेध किया गया है, जो यापनीयमत के आधारभूत सिद्धान्त हैं।

२. वरांगचरित में महावीर के विवाह की मान्यता भी अस्वीकार की गई है, जब कि यापनीयमान्य श्वेताम्बर-आगमों में महावीर के विवाह होने की बात कही गई है।

३. वरांगचरित में जो पाँच महाव्रतों की भावनाएँ वर्णित हैं, वे दिगम्बर-आगमों का अनुसरण करती हैं और यापनीयमान्य श्वेताम्बर-तत्त्वार्थाधिगमभाष्य में वर्णित भावनाओं से भिन्न हैं।

४. वरांगचरित में मुनि के लिए बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग आवश्यक बतलाया गया है। यह सिद्धान्त यापनीयों द्वारा मान्य वैकल्पिक सवस्त्रमुक्ति के विरुद्ध है।

५. वरांगचरित में स्वतंत्र काल द्रव्य की सत्ता स्वीकार की गई है, जब कि यापनीय-मान्य श्वेताम्बर-आगम उसे अमान्य करते हैं।

६. वरांगचरित में चौदह गुणस्थानों का कथन है। यह सिद्धान्त यापनीयों की गृहस्थमुक्ति एवं अन्यलिंगिमुक्ति की मान्यताओं के विरुद्ध है।

७. वरांगचरित में दिगम्बरमत के अनुरूप 'प्रथमानुयोग' शब्द का प्रयोग किया गया है। यापनीयमान्य श्वेताम्बरसाहित्य में उसके स्थान पर 'धर्मकथानुयोग' शब्द प्रयुक्त हुआ है।

८. वरांगचरित में वेदत्रय की स्वीकृति है, जब कि यापनीयमत केवल एक ही वेदसामान्य मानता है।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

एकविंश अध्याय

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

एकविंश अध्याय

हरिवंशपुराण

प्रथम प्रकरण

हरिवंशपुराण के दिगम्बरग्रन्थ होने के प्रमाण

श्रीमती डॉ० कुसुम पटोरिया एवं डॉ० सागरमल जी ने हरिवंशपुराणकार जिनसेन (७४८-८१८ ई०) को यापनीय-आचार्य और उनके द्वारा रचित हरिवंशपुराण को यापनीय-सम्प्रदाय का ग्रन्थ माना है, किन्तु इसके पक्ष में उन्होंने जो हेतु प्रस्तुत किये हैं, वे भी पहले की तरह असत्य या हेत्वाभास हैं। उनकी असत्यता एवं हेत्वाभासता का उद्घाटन बाद में किया जायेगा, पहले वे प्रमाण उपस्थित किये जा रहे हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि यह दिगम्बरपरम्परा का ग्रन्थ है।

हरिवंशपुराण में यापनीयमत-विरुद्ध सिद्धान्त

१

स्त्रीमुक्तिनिषेध

हरिवंशपुराण में स्त्रीमुक्ति का निषेध किया गया है, जो उसके दिगम्बरग्रन्थ होने और यापनीयग्रन्थ न होने का प्रबल प्रमाण है। यथा—

नवस्थानेषु निर्ग्रन्थाः रूपभेदविवर्जिताः।
अध्यात्मकृत-नानात्वादुपर्युपरि-शुद्धयः॥ ३/८४॥

संयतासंयतान्तेषु गुणस्थानेषु पञ्चसु।
रूपं प्रत्यभिभेदोऽस्ति यथाध्यात्मकृतस्तथा॥ ३/८५॥

अनुवाद—"छठे से लेकर चौदहवें तक नौ गुणस्थानों के जीवों में बाह्यरूप की अपेक्षा कोई भेद नहीं है, सब निर्ग्रन्थमुद्रा के धारक होते हैं। परन्तु विशुद्धि की अपेक्षा उनमें भेद है। अर्थात् वे उत्तरोत्तर अधिक विशुद्ध होते हैं। किन्तु पहले से लेकर पाँचवें गुणस्थान तक के जीवों में बाह्यवेश तथा आत्मविशुद्धि दोनों की अपेक्षा भेद है।

यहाँ छठे से चौदहवें गुणस्थान तक के जीवों को बाह्यवेश की अपेक्षा निर्ग्रन्थ (नग्न) कहकर स्त्रीमुक्ति का निषेध किया गया है, क्योंकि स्त्री के नग्न न हो सकने के कारण छठवाँ गुणस्थान संभव नहीं है।

हरिवंशपुराण में यह भी बतलाया गया है कि श्रावक-श्राविका अच्युत नामक सोलहवें स्वर्ग तक ही जाते हैं, उससे ऊपर जिनलिङ्गधारी साधुओं का ही गमन होता है। अभव्यों की उत्पत्ति नौवें ग्रैवेयक तक भी हो सकती है, किन्तु यह निर्ग्रन्थलिंग और उग्रतप से ही संभव है—

कल्पानच्युतपर्यन्तान् सौधर्मप्रभृतीन् पुनः।
व्रजन्ति श्रावकास्तेभ्यः श्रमणाः परतोऽपि च॥ ६/१०५॥

उपपादोऽस्त्यभव्यानामग्र – ग्रैवेयकेष्वपि।
स च निर्ग्रन्थलिङ्गेन सङ्गतोऽग्रतपःश्रिया॥ ६/१०६॥

यह स्त्रीमुक्तिनिषेध का **हरिवंशपुराण** में दूसरा प्रमाण है। आगे कहा गया है कि भाववेद की अपेक्षा तीनों वेदों से मुक्ति होती है, किन्तु द्रव्यवेद की अपेक्षा केवल पुंल्लिङ्ग से ही होती है। यथा—

सिद्धिः सिद्धिगतौ ज्ञेया सुमनुष्यगतौ यथा।
अवेदत्वेन लिङ्गेन भावतस्तु त्रिवेदतः॥ ६४/९३॥

न द्रव्याद् द्रव्यतः सिद्धिः पुंल्लिङ्गेनैव निश्चिता।
निर्ग्रन्थेन च लिङ्गेन सग्रन्थेनाथवा न वा॥ ६४/९४॥

अनुवाद—"गति-अनुयोग से विचार करने पर सिद्धगति या मनुष्यगति में सिद्धि होती है। लिंग-अनुयोग से विचार करने पर प्रत्युत्पन्नग्राही नय की अपेक्षा अवेद से सिद्धि प्राप्त होती है और भूतार्थग्राही नय की अपेक्षा भाववेदतः तीनों भाववेदों से सिद्धि संभव है।" (६४/९३)।

"किन्तु द्रव्यवेद की अपेक्षा तीनों द्रव्यवेदों से सिद्धि संभव नहीं है। द्रव्यवेद की अपेक्षा केवल पुंल्लिङ्ग से ही सिद्धि हो सकती है। लिंग का अर्थ वेष भी है। अतः उसकी अपेक्षा विचार करने पर प्रत्युत्पन्नग्राही नय की अपेक्षा निर्ग्रन्थलिंग से ही सिद्धि होती है और भूतार्थग्राही नय की अपेक्षा सग्रन्थलिंग से सिद्धि होती है। अथवा सग्रन्थलिंग से सिद्धि होती ही नहीं है।" (६४/९४)।

यहाँ तो '**द्रव्य की अपेक्षा पुंल्लिंग से ही सिद्धि होती है,**' कहकर एकदम स्पष्ट शब्दों में स्त्रीमुक्ति का निषेध कर दिया गया है।

कृष्ण की दूसरी पट्टरानी रुक्मिणी के विषय में भविष्यवाणी करते हुए भगवान् नेमिनाथ कहते हैं—"तुम इस उत्तम पर्याय में दीक्षा धारण कर उत्तम देव होगी और

फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

वहाँ से च्युत होकर निर्ग्रन्थ तप करके निश्चित ही मोक्ष प्राप्त करोगी।'' देखिए **हरिवंशपुराण** के निम्नलिखित पद्य—

ततोऽवतीर्य भीष्मस्य श्रीमत्यां त्वं सुताभवः।
नगरे कुण्डिनाभिख्ये रुक्मिणी रुक्मिणः स्वसा॥ ६०/३९॥

कृत्वा चात्र भवे भव्ये प्रव्रज्यां विबुधोत्तमः।
च्युत्वा तपश्च कृत्वात्र नैर्ग्रन्थ्यं मोक्ष्यसे ध्रुवम्॥ ६०/४०॥

कृष्ण की पहली पट्टरानी सत्यभामा, तीसरी पट्टरानी जाम्बवती, चौथी पट्टरानी सुसीमा, पाँचवी, पट्टरानी लक्ष्मणा, छठी पट्टरानी गान्धारी, सातवीं पट्टरानी गौरी और आठवीं पट्टरानी पद्मावती के विषय में भी भगवान् ने तीसरे भव में पुरुषपर्याय से मुक्त होने की भविष्यवाणी की है।[१]

हरिवंशपुराणकार ने 'मल्लि' शब्द के साथ पुंल्लिंग का प्रयोग किया है, जिससे संकेतित होता है कि वे उन्हें स्त्री नहीं मानते।[२] इसके अतिरिक्त श्वेताम्बर-आगम ज्ञातृधर्मकथा में उन्हें जयन्त नामक स्वर्ग से अवतरित माना गया है, जबकि हरिवंशपुराण के अनुसार वे अपराजित स्वर्ग से अवतरित हुए थे।[३] इस प्रकार हरिवंशपुराण में स्त्रीमुक्तिनिषेध के अनेक प्रमाण उपलब्ध होते हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि वह दिगम्बरग्रन्थ है, यापनीयग्रन्थ नहीं।

२

सवस्त्रमुक्ति एवं गृहस्थमुक्ति का निषेध

हरिवंशपुराण में मुनि के लिए उन्हीं २८ मूलगुणों का विधान किया गया है, जिनका उल्लेख आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार (३/८-९) में किया है। देखिए—

बाह्याभ्यन्तरवर्तिभ्यः सर्वेभ्यो विरतिर्यतः।
स्वपरिग्रहदोषेभ्यः पञ्चमं तु महाव्रतम्॥ २/१२१॥

एवं समितयः पञ्च गोप्यास्तिस्रस्तु गुप्तयः।
वाङ्मनःकाययोगानां शुद्धरूपाः प्रवृत्तयः॥ २/१२७॥

चित्तेन्द्रियनिरोधश्च षडावश्यक-सत्क्रियाः।
लोचास्नानैक-भक्तं च **स्थिति-भुक्तिरचेलता**॥ २/१२८॥

---

१. हरिवंशपुराण ६०/२२-२३, ५३-५४, ७२, ८५, ९३-९४, १०४, १२१-१२२।
२. क—'नमो मोहमहामल्लमाथिमल्लाय मल्लये॥' १/२१॥ हरिवंशपुराण।
ख—'मल्लिः पञ्चशतैः सिद्धः शान्तिर्नवशतैः सह॥' ६०/२८३॥ हरिवंशपुराण।
३. 'नमिमल्लीशावपराजिततश्च्युतौ॥' ६०/१६५॥ हरिवंशपुराण।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

भूमिशय्याव्रतं दन्त-मल-मार्जन-वर्जनम्।
तपः-संयम-चारित्रं परीषह-जयः परः॥ २/१२९॥

अनुप्रेक्षाश्च धर्मश्च क्षमादिदशलक्षणः।
ज्ञान - दर्शन - चारित्र- तपो-विनय-सेवनम्॥ २/१३०॥

इति श्रमण-धर्मोऽयं कर्म-निर्मोक्ष-हेतुकः।
सुरासुरनराध्यक्षं जिनोक्तस्तं तदा नराः॥ २/१३१॥

इनमें **अचेलता** भी एक मूलगुण है। अचेलता को साधु का कर्मनिर्मोक्षहेतुक मूलगुण या श्रमणधर्म मानने से सिद्ध है कि हरिवंशपुराणकार सचेल साधु को साधु की श्रेणी में नहीं रखते। तथा उन्होंने कहा है कि प्रमत्तसंयत से लेकर अयोगकेवली तक नौ गुणस्थानों के मुनि बाह्यरूप की अपेक्षा निर्ग्रन्थ (नग्न) ही होते हैं, उनके बाह्य रूप में कोई भेद नहीं होता—"**नवस्थानेषु निर्ग्रन्थाः रूपभेदविवर्जिताः।**" (३/८४)। ये दो उल्लेख इस बात के प्रबल प्रमाण हैं कि **हरिवंशपुराण** के कर्त्ता को सवस्त्र-मुक्ति मान्य नहीं है। इसके अतिरिक्त उक्त पुराण में कहा गया है कि जब भगवान् ऋषभदेव ने मुनिदीक्षा ग्रहण की, तब उनके प्रति भक्ति रखने वाले इक्ष्वाकु, कुरु, उग्र, भोज आदि वंशों के चार हजार राजाओं ने भी **नाग्न्यव्रत** धारण कर लिया—

राजक्षत्रोग्रभोजाद्याः स्वामिभक्ता महानृपाः।
चतुःसहस्रसंख्याता मुख्या **नाग्न्यस्थितिं श्रिताः**॥ ९/१००॥

किन्तु वे क्षुधादिपरीषहों को सहन करने में समर्थ नहीं हुए, फलस्वरूप जिनमार्ग से भ्रष्ट हो गये।[४] नग्न अवस्था में ही वे फल-मूल आदि खाकर और जल पीकर अपनी क्षुधा-तृषा शान्त करने लगे। तब देवों ने उन्हें सावधान किया कि वे **नग्नवेश धारण करते हुए मुनिधर्म-विरोधी प्रवृत्ति न करें।** इससे लज्जित और भयभीत होकर उन्होंने कुशा, चीवर, वल्कल आदि धारण कर लिए।[५] अंत में वे जिनमार्ग छोड़कर तापस और परिव्राजक बन गये।[६]

---

४. ततः कच्छमहाकच्छमरीच्यग्रेसरास्तके।
षड्मासाभ्यन्तरे भग्नाः क्षुधाद्युग्रपरीषहैः॥ ९/१०४॥ हरिवंशपुराण।

५. भक्षणं फलमूलादेरपां पानावगाहनम्।
कुर्वतां नग्नरूपेण स्वयंग्राहेण भूभृताम्॥ ९/११३॥ हरिवंशपुराण।
भो भो माऽनेन रूपेण स्वयंग्राहविरोधिना।
प्रवर्त्तध्वमिति व्यक्ताः खेऽभवन्मरुतां गिरः॥ ९/११४॥ हरिवंशपुराण।
ततस्ते त्रपितास्त्रस्ता दिशो वीक्ष्य महीक्षितः।
चक्रुर्वेषपरावर्तं कुश-चीवर-वल्कलैः॥ ९/११५॥ हरिवंशपुराण।

६. इति निश्चित्य तेऽन्योन्यं पाण्डुपत्रफलाशिनः।
जटावल्कलिनो जातास्तापसा वनवासिनः॥ ९/१२४॥ हरिवंशपुराण।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

यहाँ ध्यान देने योग्य है कि हरिवंशपुराण के कर्त्ता ने **राजकुल में उत्पन्न राजाओं के लिए आपवादिक सवस्त्रलिंग का विधान नहीं किया,** न ही क्षुधादिपरीषहों से पीड़ित होने पर आपवादिक सवस्त्रलिंग के औचित्य का प्रतिपादन किया है, न ही उनके तापस और परिव्राजक बन जाने पर उन्हें मोक्ष का पात्र बतलाया है, क्योंकि तापसों को उन्होंने केवल भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देवों में जन्म लेनेवाला तथा परिव्राजकों को ब्रह्मलोक नामक पाँचवें स्वर्ग तक ही उत्पन्न होनेवाला कहा है।[७] हरिवंशपुराण में सवस्त्रमुक्ति-निषेध का यह तीसरा प्रमाण है। सवस्त्रमुक्ति के निषेध से गृहस्थमुक्ति, परतीर्थिकमुक्ति और स्त्रीमुक्ति का भी निषेध हो जाता है। यह भी हरिवंशपुराण के दिगम्बरग्रन्थ होने का अकाट्य प्रमाण है।

३
परतीर्थिकमुक्ति का निषेध

यद्यपि सवस्त्रमुक्तिनिषेध से ही परतीर्थिक (अन्यलिंगी) की भी मुक्ति का निषेध हो जाता है, तथापि उसके निषेध के अन्य प्रमाण भी हरिवंशपुराण में मिलते हैं। जैसा कि पूर्व में अनेकत्र स्पष्ट किया जा चुका है, जैनेतर मान्यताओं और जैनेतरलिंग (अनग्नत्व) के अवलम्बन द्वारा भी मुक्ति प्राप्त होने की मान्यता परतीर्थिकमुक्ति की मान्यता कहलाती है। यह भी यापनीयों की मौलिक मान्यताओं में से अन्यतम है। किन्तु हरिवंशपुराण में इसका निषेध किया गया है। इसके निम्नलिखित प्रमाण हैं—

१. हरिवंशपुराण में कहा गया है कि सम्यग्दर्शन (जिनोपदिष्ट तत्त्वों में श्रद्धा) होने तथा सम्यक्चारित्र (नग्नत्व आदि २८ मूलगुणों एवं तप आदि उत्तरगुणों) के पालन से ही कर्मों का क्षय होता है।[८]

२. निर्ग्रन्थ (अचेलक) ही संयत गुणस्थान को प्राप्त होते हैं।[९]

३. अचेलत्व आदि २८ मूलगुणों और अन्य उत्तरगुणों को धारण करने वाला ही मुनि कहलाता है और मुनि ही मोक्ष प्राप्त करने में समर्थ होता है। (२/११७-१३१/पृ.२१-२२)।

---

७. आज्योतिर्लोकमुत्पादस्तापसानां तपस्विनाम्।
ब्रह्मलोकावधिर्ज्ञेयः परिव्राजकयोगिनाम्॥ ६/१०३॥ हरिवंशपुराण।

८. पूर्वमेवौपशमिकं क्षायोपशमिकं क्रमात्।
क्षायिकं तैः समुत्पाद्य सम्यक्त्वमनुभूयते॥ ३/१४४॥ हरिवंशपुराण।
तथा चारित्रमोहस्य क्षयोपशमलब्धितः।
चारित्रं प्रतिपद्यामी क्षयं कुर्वन्ति कर्मणाम्॥ ३/१४५॥ हरिवंशपुराण।

९. नवस्थानेषु निर्ग्रन्थाः रूपभेदविवर्जिताः॥ ३/८४॥ हरिवंशपुराण।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

४. जिनलिंगरहित साधु सहस्रारनामक बारहवें स्वर्ग से ऊपर नहीं जा सकता।[१०]

हरिवंशपुराण में प्रतिपादित इन सिद्धान्तों से स्पष्ट होता है कि परतीर्थिक पुरुष सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से रहित होते हैं। उनमें अचेलत्व आदि २८ मूलगुणों और अन्य उत्तरगुणों का अभाव होता है, अतः वे संयत गुणस्थान को प्राप्त नहीं हो सकते। इसलिए उनका कर्मक्षय संभव नहीं है। हरिवंशपुराण में प्रतिपादित इस यापनीयमतविरोधी सिद्धान्त से सिद्ध है कि यह यापनीयमत का नहीं, अपितु दिगम्बरमत का ग्रन्थ है।

४

केवलिभुक्तिनिषेध

केवलिभुक्ति भी यापनीयों की मूलभूत मान्यताओं में से एक है। किन्तु **हरिवंशपुराण** में इसका निषेध किया गया है। केवलज्ञान के दश अतिशयों का वर्णन करते हुए जिनसेन कहते हैं—

निमेषोन्मेष-विगम-प्रशान्तायत-लोचनम्।
सुव्यवस्थितसुस्निग्धनखकेशोपशोभितम्॥ ३/१२॥

त्यक्तभुक्तिजरातीतमच्छायं छाययोर्जितम्।
एकतो मुखमप्यच्छचतुर्मुखमनोहरम्॥ ३/१३॥

इन दश अतिशयों में **त्यक्तभुक्ति** शब्द से केवली भगवान् के कवलाहारी होने का निषेध किया गया है।

केवली भगवान् के प्रभाव से समवशरण में स्थित अन्यजीवों को भी भूख-प्यास आदि की पीड़ा नहीं होती, तब स्वयं को होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। इस तथ्य की अभिव्यक्ति हरिवंशपुराण के कर्ता ने निम्नलिखित शब्दों में की है—

न मोहो न मयद्वेषौ नोत्कण्ठारतिमत्सराः।
अस्यां भद्रप्रभावेण जम्भाजृम्भा न संसदि॥ ५७/१८१॥

निद्रा-तन्द्रा-परिक्लेश-क्षुत्पिपासा-सुखानि न।
नास्त्यन्यच्चाशिवं सर्वमहरेव च सर्वदा॥ ५७/१८२॥

---

१०. सदृगाजीविकानां च सहस्रारावधिर्भवः।
न जिनेतरदृष्टेन लिङ्गेन तु ततः परम्॥ ६/१०४॥ हरिवंशपुराण।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

हरिवंशपुराणकार ने यह भी कहा है कि सयोगकेवली और अयोगकेवली को क्षायिकलब्धियों की प्राप्ति हो जाने से अनन्त आत्मसुख की अनुभूति होती है। **उनका सुख इन्द्रियविषयों से उत्पन्न नहीं होता।** यथा—

तत्र केवलिनां सौख्यं सयोगानामयोगिनाम्।
लब्धक्षायिकलब्धीनामनन्तं नेन्द्रियार्थजम्॥ ३ / ८६॥

इन शब्दों के द्वारा भी केवली भगवान् को क्षुधा-तृषा आदि की पीड़ाओं से रहित बतलाया गया है।

यापनीयों की इस प्रमुख मान्यता के निषेध से स्पष्ट है कि **हरिवंशपुराण** के कर्त्ता जिनसेन यापनीय-आचार्य नहीं, अपितु दिगम्बराचार्य हैं।

५
यापनीयमत-विरुद्ध अन्य सिद्धान्त

१. यापनीयमत में वस्त्रपात्रादि-बाह्यपरिग्रह का त्याग आवश्यक नहीं माना गया है, क्योंकि उनके अनुसार सवस्त्र साधुओं, स्त्रियों, गृहस्थों और अन्यलिंगियों की भी मुक्ति हो सकती है। इन सबके पास वस्त्रपात्रादि-परिग्रह होता है। किन्तु **हरिवंशपुराण** में मुक्ति के लिए अभ्यन्तरपरिग्रह के साथ वस्त्रपात्रादि-बाह्यपरिग्रह का भी त्याग अनिवार्य बतलाया गया है। यथा—

बाह्याभ्यन्तरवर्तिभ्यः सर्वेभ्यो विरतिर्यतः।
स्वपरिग्रहदोषेभ्यः पञ्चमं तु महाव्रतम्॥ २ / १२१॥

चतुष्कषाया नव नोकषाया मिथ्यात्वमेते द्विचतुःपदे च।
क्षेत्रं च धान्यं च हि कुप्यभाण्डे धनं च यानं शयनासनं च॥ ३४ / १०४॥

अन्तर्बहिर्भेदपरिग्रहास्ते रन्ध्रैश्चतुर्विंशतिराहतास्तु।
ते द्वे शते षोडशसंयुते स्युर्महाव्रते स्यादुपवासभेदाः॥ ३४ / १०५॥

२. यापनीयमत में कल्पों की संख्या केवल १२ मानी गयी है, जब कि दिगम्बरमत में १२ और १६ दोनों। हरिवंशपुराण (३ / १५२-१५५) में १६ कल्पों का वर्णन है, जो यापनीयमत के विरुद्ध है। इसी प्रकार यापनीयमत अनुदिश नामक नौ स्वर्ग स्वीकार नहीं करता, जबकि हरिवंशपुराण में स्वीकार किये गये हैं।[११] यह भी यापनीयमत के विरुद्ध है।

---

११. नवग्रैवेयकावासा नवानुदिशवासिनः।
कल्पातीतास्तथा ज्ञेयाः पञ्चानुत्तरवासिनः॥ ३ / १५०॥ हरिवंशपुराण।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

३. यापनीयमान्य श्वेताम्बर—'ज्ञातृधर्मकथाङ्ग' में तीर्थंकर प्रकृतिबन्धक भावनाएँ बीस बतलायी गई हैं। इसके विपरीत हरिवंशपुराण में सोलह भावनाएँ ही वर्णित हैं।[१२]

४. हरिवंशपुराण में अहिंसादि महाव्रतों की पाँच-पाँच भावनाएँ दिगम्बरमान्य तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार वर्णित हैं, श्वेताम्बरमान्य तत्त्वार्थसूत्र में तो भावनाओं का उल्लेख ही नहीं है। तत्त्वार्थाधिगमभाष्य में है, किन्तु हरिवंशपुराण में, उनका भी अनुसरण नहीं किया गया है। उदाहरणार्थ, दिगम्बरमान्य तत्त्वार्थसूत्र में अहिंसामहाव्रत की पाँच भावनाओं के अन्तर्गत मनोगुप्ति के साथ वचनगुप्ति का भी उल्लेख है,[१३] जबकि श्वेताम्बरीय तत्त्वार्थाधिगमभाष्य में वचनगुप्ति के स्थान में एषणासमिति का कथन है।[१४] हरिवंशपुराण में दिगम्बरमान्य तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार वचनगुप्ति का ही वर्णन है।[१५] यह भी यापनीयमत के विरुद्ध है।

५. श्वेताम्बर-आगमों के अनुसार तीर्थंकर की माता तीर्थंकर के गर्भ में आने पर चौदह स्वप्न देखती हैं,[१६] जब कि दिगम्बरपुराणों में सोलह स्वप्नों का वर्णन है। हरिवंशपुराण में भी मरुदेवी को सोलह स्वप्न देखते हुए वर्णित किया गया है।[१७] हरिवंशपुराण की यह मान्यता भी श्वेताम्बर-आगमों को प्रमाण माननेवाले यापनीयों के मत के विरुद्ध है।

६. यापनीयमान्य श्वेताम्बर-आगमों में काल को स्वतंत्र द्रव्य नहीं माना गया है। स्वतंत्र द्रव्य की मान्यता को श्वेताम्बराचार्यों ने अन्य (दिगम्बर) आचार्यों का मत कहा है।[१८] किन्तु हरिवंशपुराण में न केवल स्वतंत्र कालद्रव्य का अस्तित्व स्वीकार किया गया है, बल्कि उसके स्वतंत्र द्रव्यत्व को युक्तियों के द्वारा सिद्ध भी किया गया है। (७/१-३१)। यह भी हरिवंशपुराण में यापनीयमतविरोधी सिद्धान्तों के प्रतिपादन का एक उदाहरण है।

---

१२. केचित् पूर्वभवाभ्यस्तशुभषोडशकारणाः॥ ३/१७४, ५८/११२, ३४/१३२-१४९॥ हरिवंशपुराण।

१३. "वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि पञ्च" ७/४/ तत्त्वार्थसूत्र (दि.)।

१४. "अहिंसायास्तावदीर्यासमितिर्मनोगुप्तिरेषणासमितिरादाननिक्षेपणसमितिरालोकितपानभोजनमिति।" ७/३/ तत्त्वार्थाधिगमभाष्य।

१५. सुवाग्गुप्तिमनोगुप्ती स्वकाले वीक्ष्य भोजनम्।
द्वे चेर्यादाननिक्षेपसमिती प्राग्व्रतस्य ताः॥ ५८/११८॥ हरिवंशपुराण।

१६. १. गज, २. वृषभ, ३. सिंह, ४. अभिषेक, ५. पुष्पमाला, ६. चन्द्रमा, ७. सूर्य, ८. ध्वजा, ९. कुम्भ, १०. पद्मयुक्त सरोवर, ११. सागर, १२. विमान, १३. रत्नराशि और १४. निर्धूम अग्नि। (ज्ञातृधर्मकथांग / अध्ययन ८ मल्ली / पृष्ठ २२२)।

१७. निधीनिव निशाशेषे ददर्श शुभसूचकान्।
क्रमेण षोडशस्वप्नानिमान् दुर्लभदर्शनान्॥ ८/५८॥ हरिवंशपुराण।

१८. 'कालश्चेत्येके।' ५/३८/ तत्त्वार्थसूत्र (श्वे.)।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

७. हरिवंशपुराण में गुणस्थानक्रम से कर्मक्षय का वर्णन किया गया है, जिसके अनुसार चौदहवें गुणस्थान के अन्त में अवशिष्ट अघातीकर्मों का क्षय होने पर ही सिद्धत्व की प्राप्ति होती है। (५६/८४-११०)। यह सिद्धान्त यापनीयमत के विरुद्ध है, क्योंकि यापनीयमत में अन्यलिंगियों और गृहस्थों की मुक्ति मान्य होने से 'मिथ्यादृष्टि' और 'संयतासंयत' गुणस्थानों में भी सम्पूर्ण कर्मक्षय स्वीकार किया गया है।

८. यापनीयमत में स्त्रीवेद, पुरुषवेद तथा नपुंसकवेद, इन तीन भाववेदों के स्थान में एक ही भाववेद-सामान्य स्वीकार किया गया है। इसका निरूपण षट्खंडागम के अध्याय में विस्तार से किया जा चुका है। किन्तु हरिवंशपुराण में तीनों भाववेदों की सत्ता मान्य की गई है। यथा—

भावांस्त्रैणान्यतो याति स स्त्रीवेदोऽतिगर्हितः।
पुन्नपुंसकवेदौ स्तः पौंस्नान्नापुंसकाद् यतः॥ ५८ / २३७॥

यह यापनीयमत के विरुद्ध है।

९. यापनीयमान्य श्वेताम्बरसाहित्य में अन्तरद्वीपों की संख्या ५६ मानी गयी है और दिगम्बरग्रन्थों में ९६।[१९] हरिवंशपुराण (५/४७६, ४८१, ५७५) में भी ९६ अन्तरद्वीपों का ही उल्लेख है। यह भी हरिवंशपुराण की यापनीयमत से सैद्धान्तिक भिन्नता है।

१०. हरिवंशपुराण (९/१८४-१८९) में भगवान् ऋषभदेव के लिए राजा श्रेयांस द्वारा जिस विधि से आहारदान किये जाने का वर्णन है, वह दिगम्बरमत के अनुरूप है।[२०] इस विधि से आहारदान और आहारग्रहण का वर्णन किसी भी यापनीयग्रन्थ में उपलब्ध नहीं है।

६
दिगम्बर-गुरुपरम्परा से सम्बद्ध

हरिवंशपुराणकार जिनसेन ने अपने को दिगम्बरगुरु-परम्परा से सम्बद्ध बतलाया है। वे लिखते हैं—"भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद बासठ वर्षों में क्रम से गौतम, सुधर्म और जम्बूस्वामी ये तीन केवली हुए। उनके बाद सौ वर्षों में समस्त पूर्वों को जाननेवाले पाँच श्रुतकेवली हुए: नन्दी, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्द्धन और भद्रबाहु। तदनन्तर एक सौ तेरासी वर्षों में ग्यारह मुनि दशपूर्वों के धारक हुए : विशाख, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जय, नाग, सिद्धार्थ, धृतिषेण, विजय, बुद्धिलाभ, गङ्गदेव और धर्मसेन। उसके बाद दो सौ बीस वर्षों में पाँच मुनि ग्यारह अंगों के धारी हुए: नक्षत्र, यशःपाल, पाण्डु,

१९. देखिए , प्रस्तुत ग्रन्थ का 'तिलोयपण्णत्ती' नामक सप्तदश अध्याय/प्रकरण १/पादटिप्पणी १४।
२०. तुलना कीजिए, मूलाचार/पूर्वार्ध/आचारवृत्ति /गा. ४८२-४८३।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

ध्रुवसेन और कंसाचार्य। तत्पश्चात् एक सौ अठारह वर्षों में सुभद्रगुरु, यशोभद्र, यशोबाहु और लोहाचार्य (लोहार्य), ये चार मुनि प्रसिद्ध आचारांग के धारी हुए।" (६६/२२-२४, १/६०-६५)।

"इनके बाद महातपस्वी विनयन्धर, गुप्तऋषि, गुप्तश्रुति, शिवगुप्त, अर्हद्बलि, मन्दरार्य, मित्रवीरवि, बलदेव, मित्रक, सिंहबल, वीरवित्, पद्मसेन, व्याघ्रहस्त, नागहस्ती, जितदण्ड, नन्दिषेण, दीपसेन, श्रीधरसेन, सुधर्मसेन, सिंहसेन, सुनन्दिषेण, ईश्वरसेन, सुनन्दिषेण, अभयसेन, सिद्धसेन, भीमसेन, जिनसेन और शान्तिसेन आचार्य हुए। तदनन्तर षट्खण्डागम के ज्ञाता जयसेन नामक गुरु हुए। उनके शिष्य अमितसेन गुरु हुए। इन्हीं अमितसेन के अग्रज धर्मबन्धु कीर्तिषेण नामक मुनि थे। उनका प्रथम शिष्य मैं जिनसेन हुआ, जिसने हरिवंशपुराण की रचना की है।" (६६/२५-३३)।

इस प्रकार आचार्य जिनसेन ने अपने को दिगम्बर-गुरुपरम्परा से सम्बद्ध बतलाया है। यह गुरुपरम्परा न तो श्वेताम्बरों में मिलती है, न यापनीयों में। गौतमस्वामी से लेकर लोहार्य तक की उपर्युक्त आचार्यपरम्परा इन्द्रनन्दी, विबुधश्रीधर आदि के 'श्रुतावतार' आदि ग्रन्थों में मिलती है, जो दिगम्बरपरम्परा के ग्रन्थ हैं। इससे स्पष्ट है कि हरिवंशपुराणकार आचार्य जिनसेन दिगम्बर थे।

७

दिगम्बर-ग्रन्थकारों का गुणकीर्त्तन

हरिवंशपुराणकार ने ग्रन्थ के आरंभ में जितने भी पूर्ववर्ती ग्रन्थकारों का गुणकीर्तन किया है, वे सब दिगम्बर हैं, जैसे आचार्य समन्तभद्र, सिद्धसेन (सन्मतिसूत्र के कर्त्ता), देवनन्दी (पूज्यपादस्वामी), वज्रसूरि (पूज्यपाद स्वामी के शिष्य वज्रनन्दी), महासेन, रविषेण (पद्मपुराणकार) जटासिंहनन्दी (वरांगचरित के कर्त्ता), शान्तिषेण, विशेषवादी, कुमारसेन, प्रभाचन्द्र, वीरसेन स्वामी (धवलाकार), जिनसेन (पार्श्वाभ्युदयकार) तथा वर्धमानपुराण के कर्त्ता। (१/२९-४२)। इससे भी हरिवंशपुराणकार का दिगम्बर होना सिद्ध होता है।

८

दिगम्बरग्रन्थों का अनुकरण

आचार्य जिनसेन ने हरिवंशपुराण की विषयवस्तु दिगम्बराचार्य-रचित ग्रन्थों से अनुकृत की है। यथा—

१. श्वेताम्बरमान्य तत्त्वार्थसूत्र में "**नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दा नयाः**" (१/३४), ये पाँच नय माने गये हैं, जब कि दिगम्बरमान्य तत्त्वार्थसूत्र में "**नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसू-**

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

त्रशब्दसमभिरूढैवंभूता नयाः'' (१/३३), ये सात नय मान्य हैं। हरिवंशपुराण में इन्हीं सात नयों को स्वीकार किया गया है—

नैगमः सङ्ग्रहश्चात्र व्यवहारर्जुसूत्रकौ।
शब्दः समभिरूढाख्य एवंभूताश्च ते नयाः॥ ५८ / ४१॥

इसी प्रकार श्वेताम्बरीय तत्त्वार्थसूत्र में पुण्यप्रकृतियाँ आठ मानी गयी हैं—''**सद्वेद्य-सम्यक्त्व-हास्य-रति-पुरुषवेद-शुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम्।**'' (८/२६)। किन्तु दिगम्बरीय तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार वे केवल चार हैं—''**सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम्।**'' (८/२५)। हरिवंशपुराण में दिगम्बरीय तत्त्वार्थसूत्र का ही अनुकरण किया गया है। यथा—

शुभायुर्नामगोत्राणि सद्वेद्यं च चतुर्विधः।
पुण्यबन्धोऽन्यकर्माणि पापबन्धः प्रपञ्चितः॥ ५८ / २९८॥

२. हरिवंशपुराण में हिंसा और असत्य की निम्नलिखित परिभाषाएँ सर्वार्थसिद्धि (७/१३-१४) से अनुकृत की गई हैं—

स्वयमेवात्मनात्मानं हिनस्त्यात्मा प्रमादवान्।
पूर्वं प्राण्यन्तराणां तु पश्चात्स्याद्वा न वा वधः॥ ५८ / १२९॥

सदर्थमसदर्थं च प्राणिपीडाकरं वचः।
असत्यमनृतं प्रोक्तमृतं प्राणिहितं वचः॥ ५८ / १३०॥

३. हरिवंशपुराण में सम्यक्त्वप्रकृति की यह परिभाषा भी अकलंकदेवकृत तत्त्वार्थराजवार्तिक[२१] के आधार पर निबद्ध की गयी है—

शुभात्मपरिणामेन निरुद्धस्वरसे स्थिते।
मिथ्यात्वे श्रद्दधानस्य सम्यक्त्वप्रकृतिर्भवेत्॥ ५८ / २३२॥

४. अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य श्रुत का वर्णन वीरसेन-स्वामीकृत धवलाटीका के आधार पर किया गया है। श्वेताम्बरीय तत्त्वार्थसूत्र (१/२०) के भाष्य में अंगबाह्यसूत्र के भीतर प्रत्याख्यान, दशाश्रुतस्कन्ध, कल्प, व्यवहार, निशीथ और ऋषिभाषित आदि शास्त्रों का समावेश है, जब कि धवलाटीका (ष.ख./पु.१/सूत्र २/पृ.९७) में इनके स्थान पर कल्पाकल्प, महाकल्प, पुण्डरीक, महापुण्डरीक और निषिद्धिका का उल्लेख मिलता है। **हरिवंशपुराण** में भी धवलाटीका में उल्लिखित इन्हीं शास्त्रों के नाम वर्णित किये गये हैं। यथा—

---

२१. ''तदेव सम्यक्त्वं शुभपरिणामनिरुद्धस्वरसं यदौदासीन्येनावस्थितमात्मानं श्रद्दधानं न निरुणद्धि। तद्वेदयमानः पुरुषः सम्यग्दृष्टिरित्यभिधीयते।'' तत्त्वार्थराजवार्तिक ८/९/२/पृ.५७४।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

तं कल्पव्यवहारं च कल्पाकल्पं तथा महा-
कल्पं च पुण्डरीकं च सुमहापुण्डरीककम्॥ २/१०४॥

तथा निषद्यकां प्रायः प्रायश्चित्तोपवर्णनम्।
जगत्त्रयगुरुः प्राह प्रतिपाद्यं हितोद्यतः॥ २/१०५॥

५. तत्त्वार्थसूत्र के श्वेताम्बरमान्य पाठ में सम्यक्त्व को देवायु के आस्रव का हेतु नहीं माना गया है, जब कि दिगम्बरमान्य पाठ में माना गया है। **'सम्यक्त्वं च'** (६/२१) सूत्र इसका प्रमाण है। **हरिवंशपुराण** के निम्नलिखित श्लोक में दिगम्बरमान्य पाठ का अनुसरण किया गया है—

सम्यक्त्वं च व्रतित्वं च बालतापस्ययोगिता।
अकामनिर्जरा चास्य दैवस्यास्रवहेतवः॥ ५८/११०॥

यदि हरिवंशपुराणकार यापनीय होते तो, वे उपर्युक्त विषयों का वर्णन श्वेताम्बर-आगमों के आधार पर करते। किन्तु उन्होंने इसके लिए दिगम्बराचार्यों द्वारा रचित ग्रन्थों का अवलम्बन किया है। इससे भी सिद्ध है कि वे यापनीय नहीं, अपितु दिगम्बर हैं।

हरिवंशपुराण में उपलब्ध ये बहुविध यापनीयमत-विरुद्ध सिद्धान्त इस बात के पक्के सबूत हैं कि वह दिगम्बरग्रन्थ है, यापनीयग्रन्थ नहीं।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

द्वितीय प्रकरण

यापनीयपक्षधर हेतुओं की असत्यता एवं हेत्वाभासता

प्रथम प्रकरण में प्रस्तुत प्रमाणों से हरिवंशपुराण के दिगम्बरग्रन्थ सिद्ध हो जाने पर यह भी निश्चित हो जाता है कि पूर्वोक्त यापनीयपक्षधर विदुषी एवं विद्वान् ने उसे यापनीयग्रन्थ सिद्ध करने के लिए जो हेतु सामने रखे हैं, वे या तो असत्य हैं या हेत्वाभास हैं, क्योंकि उनके रहते हुए भी हरिवंशपुराण दिगम्बरग्रन्थ सिद्ध होता है, यापनीयग्रन्थ नहीं। प्रस्तुत प्रकरण में यह स्पष्ट किया जा रहा है कि उनमें से कौन-सा हेतु असत्य है और कौन-सा हेत्वाभास। स्पष्टीकरण के लिए यापनीयपक्ष-पोषक हेतु का प्रदर्शन **यापनीयपक्ष** शीर्षक के नीचे तथा उसकी असत्यता या हेत्वाभासता का प्ररूपण **दिगम्बरपक्ष** शीर्षक के नीचे किया जा रहा है।

१

यापनीयपक्ष

बृहत्कथाकोशकार हरिषेण पुन्नाटसंघी थे। उन्होंने कथाकोश में स्त्रीमुक्ति और गृहस्थमुक्ति का स्पष्ट उल्लेख किया है, अतः वे यापनीय थे। हरिवंशपुराण के कर्त्ता जिनसेन भी पुन्नाटसंघी थे, अतः इन्हें भी यापनीय ही होना चाहिए। (या.औ.उ.सा./पृ.१४९)।

दिगम्बरपक्ष

जिनसेन और हरिषेण दोनों ने क्रमशः अपने हरिवंशपुराण एवं बृहत्कथाकोष में स्त्रीमुक्ति, सवस्त्रमुक्ति, गृहस्थमुक्ति, अन्यलिंगिमुक्ति, केवलिभुक्ति आदि यापनीयसिद्धान्तों का निषेध किया है, अतः दोनों यापनीय नहीं थे, अपितु दिगम्बर थे। इसलिए उनका पुन्नाटसंघ भी दिगम्बरों का ही संघ था, यापनीयों का नहीं। यापनीयपक्षधर विद्वान् और विदुषी ने जहाँ स्त्रीमुक्ति आदि का निषेध है, वहाँ स्त्रीमुक्ति आदि का प्रतिपादन मानकर इस असत् हेतु के द्वारा ग्रन्थ और ग्रन्थकर्त्ता को यापनीय सिद्ध करने का दूषित प्रयास किया है।

पुन्नाटसंघ को यापनीयसंघ सिद्ध करने के लिए डॉ० सागरमल जी ने यह भी स्वबुद्धि से कल्पित कर लिया है कि इसकी उत्पत्ति यापनीयों के पुन्नागवृक्षमूलगण से हुई थी। (जै.ध.या.स./पृ. ६३)। किन्तु इसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है। डॉ० विद्याधर जोहरापुरकर ने इससे उलटी अटकल लगाई है। उनका कहना है कि "संभवतः पुन्नागवृक्षमूलगण पुन्नाटसंघ का ही रूपान्तर है।" (भट्टा.सम्प्र./पृ. २५७)। इसके पक्ष में भी कोई ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं है । यह उनके मन की अटकल है, जो वाक्य में प्रयुक्त **सम्भवतः** शब्द से सूचित होती है।

पं० नाथूराम जी प्रेमी ने ऐसी कोई अटकल नहीं लगाई है। वे लिखते हैं— ''पुन्नाट कर्नाटक का प्राचीन नाम है। हरिषेण ने अपने कथाकोष में लिखा है कि भद्रबाहु स्वामी के आज्ञानुसार उनका सारा संघ चन्द्रगुप्त या विशाखाचार्य के साथ दक्षिणापथ के पुन्नाट देश में गया।[२२] दक्षिणापथ का यह पुन्नाट कर्नाटक ही है। कन्नड़ साहित्य में भी पुन्नाटराज्य के उल्लेख मिलते हैं। प्रसिद्धभूगोलवेत्ता टालेमी ने इसका 'पोन्नट' नाम से उल्लेख किया है। इस देश के मुनिसंघ का नाम पुन्नाटसंघ था। संघों के नाम प्रायः देशों और स्थानों के नाम से पड़े हैं। श्रवणबेल्गोल के १९४ नं० के शिलालेख में जो श० सं० ६२२ के लगभग का है, एक 'कित्तूर' नाम के संघ का उल्लेख है। कित्तूर या कीर्तिपुर पुन्नाट की पुरानी राजधानी थी, जो इस समय मैसूर के 'होग्गडेवंकोटे' ताल्लुके में है। सो यह कित्तूरसंघ या तो पुन्नाटसंघ का ही नामान्तर होगा या उसकी एक शाखा।'' (जै.सा.इ./द्वि.सं./पृ. ११४)।

प्रेमी जी हरिवंशपुराणकार द्वारा उल्लिखित उनकी गुरुपरम्परा का निर्देश करते हुए आगे लिखते हैं—''इसमें अमितसेन को पुन्नाटसंघ का अग्रणी (आगे जानेवाला) बतलाया है, जिससे ऐसा मालूम होता है कि ये अमितसेन ही पुन्नाटदेश को छोड़कर सबसे पहले उत्तर की तरफ बढ़े होंगे और पूर्ववर्ती जयसेन गुरु तक यह संघ पुन्नाट में ही विचरण करता रहा होगा। अर्थात् जिनसेन से ५०-६० वर्ष पहले ही काठियाबाड़ में इस संघ का प्रवेश हुआ होगा।'' (जै.सा.इ./द्वि.सं./पृ.११५)। ''--- जान पड़ता है कि पुन्नाट (कर्नाटक) से बाहर जाने पर ही यह संघ पुन्नाटसंघ कहलाया, जिस तरह कि आजकल जब कोई एक स्थान को छोड़कर दूसरे स्थान में जाकर रहता है, तब वह अपने पूर्वस्थानवाला कहलाने लगता है।'' (जै.सा.इ./द्वि.सं./पृ.१२२)।

प्रेमी जी की यह व्याख्या अत्यन्त युक्तिसंगत है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि पुन्नाटसंघ की उत्पत्ति हरिवंशपुराणकार जिनसेन के पूर्वज आचार्य अमितसेन के पुन्नाटदेश को छोड़कर काठियावाड़ जाने पर हुई थी। अतः यह अटकल निरस्त हो जाती है कि पुन्नागवृक्षमूलगण से उसकी उत्पत्ति हुई थी या पुन्नागवृक्षमूलगण उसका रूपान्तर है। **पुन्नाट** शब्द देशवाचक है और **पुन्नाग** शब्द वृक्षवाचक। इनमें परस्पर कोई साम्य भी नहीं है, जिससे एक से दूसरे की उत्पत्ति मानी जाय। इस प्रकार सिद्ध है कि पुन्नाटसंघ की उत्पत्ति यापनीयों के पुन्नागवृक्षमूलगण से नहीं हुई थी, अतः वह यापनीय-संघ नहीं था। इसलिए पुन्नाटसंघी जिनसेन को यापनीय सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत किया गया यह हेतु असत्य है।

---

२२. अनेन सह सङ्घोऽपि समस्तो गुरुवाक्यतः।
दक्षिणापथ-देशस्थ-पुन्नाट-विषयं ययौ॥ ४२॥ भद्रबाहुकथानक / बृहत्कथाकोश।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in